पूंजीवाद में गैर-बराबरी का राजनीतिक अर्थशास्त्र

पिछले बीस सालों से एक **वर्ग युद्ध** चल रहा है और हमारा **वर्ग जीत गया है**।

-वारेन बुफे

वित्तीय निवेशक और दुनिया के चौथे धनी व्यक्ति

जब कभी धन सम्पदा के वितरण की बात उठती है, राजनीति से बचा नहीं जा सकता और हर किसी के लिए समसामयिक वर्गीय पूर्वाग्रहों और हितों से बचना कठिन होता है।

-थॉमस पिकेटी

पूंजीवाद के विकास के साथ गैर-बराबरी का नया स्पष्टीकरण ढूंढना आवश्यक हो गया, खासकर इसलिए कि व्यवस्था के मार्क्स जैसे आलोचकों ने शोषण की बातें कीं।

इस मामले में जो सिद्धान्त प्रभावी हुआ-उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की शुरुआत से और जो अब तक हावी है-उसे "सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त" कहा गया; जिनकी उत्पादकता ज्यादा होती है वे ज्यादा कमाते हैं, जो उनके द्वारा समाज को ज्यादा योगदान को दर्शाता है। मांग और पूर्ति के जरिये काम करने वाला प्रतियोगी बाजार हर व्यक्ति के योगदान के मूल्य को तय करता है।

-जोसेफ स्टिग्लिज

पिछले दशक भर से देशों के भीतर और देशों के बीच गैर-बराबरी आम चर्चा का विषय बन गई है। पूंजीवादी हलकों में भी इसकी व्यापक चर्चा है और लगभग सारी पूंजीवादी वैश्विक संस्थाएं इस पर लगातार रिपोर्ट प्रकाशित कर रहीं हैं। हालात वहां पहुंच गये हैं जहां इस विषय पर लिखी हई एक शुद्ध अर्थशास्त्रीय और भारी भरकम किताब 'बेस्ट सेलर' बन गई। फ्रांसीसी अर्थशास्त्री थॉमस पिकेटी की यह किताब-इक्कीसवीं सदी में पूंजी (Capital in the Twenty First Century) पहले फ्रांसीसी भाषा में 2013 में प्रकाशित हुई। जब 2014 में इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुआ तो इसने देखते ही देखते अंग्रेजी भाषी दुनिया में अपना झण्डा गाड़ दिया। पाल क्रुगमान के शब्दों में जहां प्रगतिशील इसकी तारीफ करने लगे वहीं रूढ़िवादी इसे कोसने लगे।

इस लेख में इस किताब के मद्देनजर पूंजीवाद में गैर-बराबरी के राजनीतिक अर्थशास्त्र पर बात की जायेगी। लेख का छोटा हिस्सा ही सीधे किताब को संबोधित होगा। अन्य हिस्सों में इसके इतिहास-वर्तमान और इस संबंध में मार्क्सवादी विचारों की चर्चा की जायेगी।

I

वर्तमान आँकड़ों में गैर-बराबरी की एक तस्वीर

जैसा कि पहले इंगित किया गया है इस समय सारी पूंजीवादी संस्थाएं गैर-बराबरी की चर्चा कर रही हैं। यहां हम इनमें से कुछ के द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों से आज के पूंजीवाद में गैर बराबरी की एक तस्वीर बनाने का प्रयास करेंगे।

आक्सफैम एक जानी-मानी दान-दाता संस्था है। भारत में भी इसका बड़ा कारोबार है। यह आजकल गैर-बराबरी को लेकर बेहद चिंतित नजर आ रही है। इसने इस साल इस पर एक बड़ी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसकी चारों ओर चर्चा हुई। इस रिपोर्ट का शीर्षक था 'बराबर करो-अतीव गैर-बराबरी को समाप्त करने का समय आ गया है' (EVEN IT UP : TIME TO END EXTREME INEQUALITY)। इस रिपोर्ट को दुनिया भर के पूंजीपतियों के सालाना सम्मेलन यानी दावोस में आयोजित विश्व आर्थिक मंच के सामने पेश भी किया गया था। ऊपर वारेन बुफे के जिस वक्तव्य को पेश किया गया है वह इसी रिपोर्ट में उद्धृत है।

पहले यह रिपोर्ट दुनिया भर में आय में असमानता की बात करते हुए यूनिसेफ का चित्र प्रस्तुत करती है (जिसे आगे दिया जायेगा) और फिर धन-सम्पदा में असमानता पर बात करती है। रिपोर्ट कहती है :

> "धन सम्पदा की असमानता उससे भी ज्यादा तीव्र है जितनी कि आय में असमानता। डालर मिलिनेअर्स की संख्या-जिन्हें उच्च निविल सम्पत्ति वाले व्यक्ति कहा जाता है- 2009 में एक करोड़ से बढ़कर 2013 में 1.37 करोड़ हो गई। वित्तीय संकट के समय

से अरबपतियों की संख्या दो गुने से ज्यादा हो गई है- 1645। अरबपतियों की बढ़वार केवल धनी देशों की कथा नहीं है : भारत में अरबपतियों की संख्या 1990 के दशक में दो से बढ़कर 2014 की शुरुआत में 65 हो गई। और उप-सहारा अफ्रीका में 35.8 करोड़ अतीव भुखमरी के शिकार लोगों के साथ आज 16 अरबपति भी हैं।

"2014 की शुरुआत में ऑक्सफैम का एक शोध बताता है कि दुनिया के सबसे धनी 85 लोगों के पास उतनी ही धन-सम्पदा है जितनी दुनिया की नीचे की पचास प्रतिशत आबादी के पास। यह आंकड़ा 85 अरबपतियों की उस धन-सम्पदा का है जो मार्च 2013 में फोर्ब्स पत्रिका के सालाना रिपोर्ट में आंकी गयी थी। मार्च 2013 से मार्च 2014 के बीच यह धन सम्पदा 14 प्रतिशत यानी 244 अरब डालर बढ़ गई। इसका मतलब है प्रतिदिन 66.8 करोड़ डालर की बढ़ोत्तरी।

"एक बार इकट्ठा हो जाने के बाद अरबपतियों की धन-सम्पदा अपनी गति प्राप्त कर लेती है, कई मामलों में तो अर्थव्यवस्था की गति से बहुत तेज। यदि बिल गेट्स अपनी सारी सम्पत्ति को नकद में रूपान्तरित कर लें और उसे प्रति दिन दस लाख डालर के हिसाब से खर्च करें तो उन्हें इसे खर्च करने मे 218 साल लग जायेंगे। पर असलियत में उनकी धन सम्पदा पर बचत खाते के साधारण 1.95% सालाना ब्याज दर से भी प्रतिदिन 42 लाख डालर की आमदनी होगी। अरब पतियों की धन सम्पदा पर औसत आय करीब 5.3 प्रतिशत सालाना है और मार्च 2013 से मार्च 2014 के बीच बिल गेट्स की धन सम्पदा 13 प्रतिशत बढ़कर 67 अरब डालर से 76 अरब डालर हो गई। यह बढ़त प्रति दिन 2.4 करोड़ डालर या प्रति घंटा दस लाख डालर की है।" (Even It Up : Time to End extreme Inequality, Oxfam, 2015, P-31, PDF edition)

असमानता में वृद्धि की गंभीरता को चिह्नित करते हुए यह रिपोर्ट कहती है :

"... ... ... वस्तुतः बहुत सारे अरबपति और करोड़पति इस बात पर आपसी सहमति में मुखर हैं कि अत्यधिक धन-सम्पदा एक ऐसी समस्या है जो हम सभी के लिए खतरा पैदा करती है। सं.रा. अमेरिका में देशभक्त करोड़पति (Patriotic Millinaires) नामक एक समूह सक्रिय है जो संसद को इस बात पर राजी करने में लगा है कि धनिकों को करों में छूट समाप्त की जाये। वह लिखता है: 'अपने राष्ट्र की वित्तीय सेहत के लिए साथी नागरिकों के भले के लिए हम मांग करते हैं कि दस लाख डालर से ज्यादा आमदनी पर कर बढ़ाया जाये।'

"पिछले चार सालों में सारे अरबपतियों की धन-सम्पदा में 124 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और अब यह करीब 5400 अरब डालर है। यह 2012 में फ्रांस के सकल घरेलू उत्पाद का दो गुना है।" (वही पृष्ठ-33)

ऑक्सफैम की रिपोर्ट दुनिया के सबसे धनी दस लोगों की एक तालिका प्रस्तुत करती है। वह इस प्रकार है

तालिका–1

नाम	धन–सम्पदा (अरब डालर)	प्रति दिन दस लाख डालर खर्च करने पर सालों की संख्या	1.95 प्रतिशत ब्याज दर पर प्रति दिन आय (दस लाख डालर)	अरबपतियों के औसत ब्याज दर (5.3 प्रशित) पर प्रति दिन आय (दस लाख डालर)
कार्लोस स्लिम हेलू (मैक्सिको)	80	220	4.3	11.6
बिल गेट्स (सं.रा. अमेरिका)	79	218	4.2	11.5
अमंकियो ओरटेगा (स्पेन)	63	172	3.3	9.1
वारेन बुफे (सं.रा. अमेरिका)	62	169	3.3	8.9
लैरी ऐलिसन (सं.रा. अमेरिका)	50	137	2.7	7.2
चार्ल्स कोच (सं.रा. अमेरिका)	41	112	2.2	5.9
डेविड कोच (सं.रा. अमेरिका)	41	112	2.2	5.9
लिलियन बेटनकोर्ट (फ्रांस)	37	102	2.0	5.4
क्रिस्टी वाल्टन (सं.रा. अमेरिका)	37	101	2.0	5.3
शेल्डान अडेल्सन (सं.रा. अमेरिका)	36	100	1.9	5.3

स्रोत वही, Table-1

इस तरह के आंकड़ों से बढ़ती असमानता को प्रदर्शित करने के बाद ऑक्सफैम की रिपोर्ट इसके कारणों की बात करती है। वह बताती है कि इसके दो प्रमुख कारण हैं: पहला, बाजार रूढ़िवादिता और दूसरा, सत्ता और राजनीति पर अभिजातों का कब्जा।

बाजार रूढ़िवादिता पर यह रिपोर्ट दो नामीं लोगों को उद्धृत करती है। बैंक आव इंग्लैण्ड के गवर्नर मार्क कार्मी कहते हैं :

"जैसे हर क्रांति अपने बच्चों को खा जाती है, बाजार रूढ़िवादिता उस सामाजिक पूंजी को निगल सकती है जो पूंजीवाद की दूरगामी गतिशीलता के लिए जरूरी है। हर विचारधारा में अतिवादिता की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। पूंजीवाद अपना संयम खो देता है जब बाजार की शक्ति में विश्वास श्रद्धा तक पहुंच जाता है। बाजार रूढ़िवादिता कमजोर विनियमन, यह विश्वास कि बुलबुले पहचाने नहीं जा सकते और यह कि बाजार हमेशा लेन-देन बराबर कर देता है-ने सीधे वित्तीय संकट में तथा उसके साथ सम्बद्ध सामाजिक पूंजी के क्षरण में योगदान किया। (वही, पृष्ठ- 54 पर उद्धृत)

"**बाजार रूढ़िवादिता** की एक **गड़बड़ी** यह है कि इसने आय के वितरण पर या **अच्छे या न्यायपूर्ण समाज** की धारणा पर कोई ध्यान नहीं दिया।" (जोसेफ स्टिग्लिज, वही, पृष्ठ- 54)

इस रिपोर्ट के अनुसार बाजार रूढ़िवादिता ने उदारीकरण और विनिमयन पर जोर दिया। तथा सभी जगह एक ही नीतियां लागू कीं, बिना भेदों को ध्यान किये। जहां तक दूसरे कारण का सवाल है; पैसे वाले लोग सारी नीतियां प्रभावित कर रहे हैं और उन्हें अपने पक्ष में झुका रहे हैं।

इस रिपोर्ट की खासियत यह है कि यह गैर-बराबरी के बारे में कई मिथकों का भण्डाफोड़ करने का दावा करती है। इसके अनुसार ये मिथक इस प्रकार हैं :

(1) अत्यधिक असमानता मानवता जितनी ही पुरानी है, वह हमेशा रही है और हमेशा रहेगी।

(2) धनी लोग इसलिए अधिक धनी हैं क्योंकि वे इसके पात्र हैं और दूसरों से ज्यादा काम करते हैं।

(3) जो लोग अच्छा करते हैं उन्हें पुरुस्कृत करने के लिए असमानता जरूरी है।

(4) असमानता की राजनीति ईर्ष्या की राजनीति से ज्यादा और कुछ नहीं है।

(5) वृद्धि दर और असमानता में कमी करने के बीच एक संबंध है-पुनर्वितरण के जरिये।

(6) बढ़ती असमानता तकनीकी प्रगति और वैश्वीकरण का अनिवार्य दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम है, इसलिए इस मामले में हम कुछ कर नहीं सकते।

(7) अत्यधिक आर्थिक असमानता समस्या नहीं है, अत्यधिक भुखमरी समस्या है। जब तक निम्नतर स्तर पर मौजूद लोगों की भुखमरी कम हो रही है, धन सम्पदा में असमानता और वृद्धि पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है।

इतना सब कहने के बाद यह रिपोर्ट समाधान क्या सुझाती है? वे इस प्रकार हैं : भुखमरी वाली मजदूरी दरों में वृद्धि, उच्चतर स्तर पर अत्यधिक तनख्वाहों की समाप्ति, मजदूरों को कंपनियों में भागीदारी, करों में वृद्धि, सामाजिक मदों पर ज्यादा खर्च, सार्विक शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा, दान में वृद्धि। यानी वही सब कुछ जो निजीकरण-उदारीकरण के पहले था। यूरोप की एक दान-दाता संस्था इससे ज्यादा सुझा भी क्या सकती है?

यूनिसेफ ऑक्सफैम की तरह एक निजी दान दाता संस्था नहीं है। यह दुनिया भर के बच्चों के कल्याण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक संस्था है। इस संस्था ने भी 2011 में गैर-बराबरी पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की। यह रिपोर्ट कहती है :

"आकलन के विभिन्न मॉडलों का इस्तेमाल कर हमने पाया कि हम एक ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जिसमें क्रय शक्ति समतुल्यता के हिसाब से देखें तो दुनिया के ऊपरी बीस प्रतिशत लोग आय का 70 प्रतिशत हासिल करते हैं जबकि सबसे नीचे के बीस प्रतिशत लोग महज दो प्रतिशत (2007 में), यदि बाजार दर पर देखें तो यह क्रमशः वैश्विक आय का 83 और 1 प्रतिशत हो जाता है। ... ...

"कुल मिलाकर, वैश्विक आय के वितरण में अत्यधिक असमानता हमें उस विकास मॉडल पर सवाल उठाने की ओर ले जानी चाहिए (विकास किसके लिए?) जो केवल सबसे धनी एक अरब लोगों के लिए ही रहा है। न केवल असमानता वृद्धि दर को धीमा करती है बल्कि यह स्वास्थ्य और सामाजिक समस्याएं पैदा करती है और राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देती है। ... ...
(Global Inequality: Beyond the Bottom Billion, Isabel ortig and Matthew Cummins, Unicef, April 2011, Page-7)

यह रिपोर्ट बताती है कि कैसे पिछले दशक भर में ढेर सारी संस्थाओं ने गैर-बराबरी को अपना मुद्दा बनाया है। भूमिका में यह रिपोर्ट कहती है।

"'अवांछनीय' और 'राजनीतिक तौर पर संवेदनशील' माने जाने वाले विषय के रूप में आय की असमानता ने अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर दशकों तक कोई ध्यान नहीं खींचा। परन्तु 2004 में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने वैश्वीकरण के सामाजिक आयामों पर अपनी पथ प्रदर्शक रिपोर्ट प्रकाशित की-'एक न्यायपूर्ण वैश्वीकरण'(A Fair Globalisation). इसके तुरंत बाद बड़े विकास संस्थानों ने असमानता पर अपनी रपटें प्रकाशित करनी शुरू कर दीं जिसमें शामिल हैं; विश्व सामाजिक स्थिति पर संयुक्त राष्ट्र संघ की 2005 की रिपोर्ट-'असमानता की कठिन स्थिति' (The Inequality Predicament), संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) की 2005 की मानव विकास रिपोर्ट- 'एक असमान विश्व में सहायता, व्यापार और सुरक्षा' (Aid, Trade and Security in an Unequal World), विश्व बैंक की 2006 की विश्व विकास रिपोर्ट 'न्याय और विकास' (Equity and Devlopment) और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का 2007 का विश्व आर्थिक परिदृश्य- 'वैश्वीकरण और असमानता' (Globalisation and Inequality)। यूनिसेफ ने स्वयं 2007 में अपना 'बाल भुखमरी और असमानता का वैश्विक अध्ययन' शुरू किया और संयुक्त राष्ट्र विश्वविद्यालय के विकास आर्थिक शोध के वैश्विक संस्थान (UNU - WIDER) ने 2008 में एक व्यापक अध्ययन प्रकाशित किया। -'पारिवारिक धन सम्पदा का वैश्विक वितरण'- जो वैश्विक आर्थिक असमानता के आंकड़ों (WIID) पर आधारित था। अभी हाल में विश्व बैंक ने वैश्विक असमानता के अध्ययन को

पूरी तरह समर्पित एक शोध लाइन शुरू की है : 'भुखमरी और असमानता' (Poverty and Inequality)। आय की असमानता को समझने तथा उस पर ध्यान केन्द्रित करने की सभी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की गति यह दिखाती है कि विकास नीति की चर्चा में असमानता पर चर्चा से अब नहीं बचा जा सकता।" (वही, पृष्ठ-10)

यह रिपोर्ट वैश्विक आय में असमानता पर एक चित्र प्रस्तुत करती है जो

बहुत पारदर्शी है। वह इस प्रकार है

चित्र-1

Figure 7. Global Income Distributed by Percentiles of the Population in 2007 (or latest available) in PPP constant 2005 international dollars*

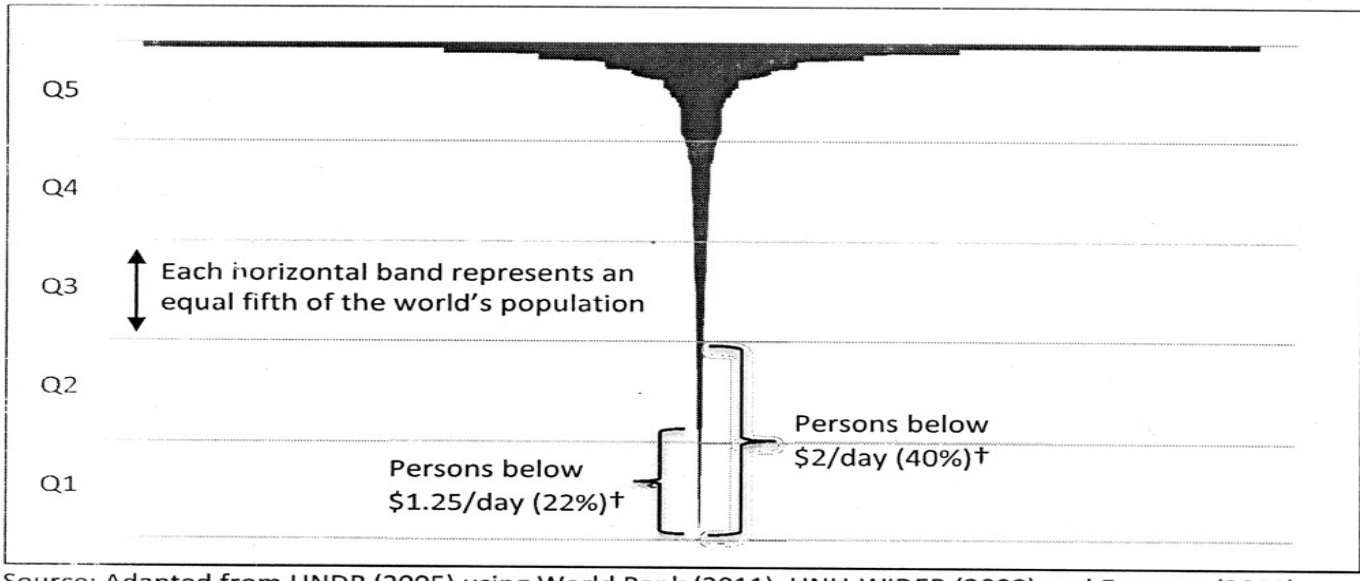

Source: Adapted from UNDP (2005) using World Bank (2011), UNU-WIDER (2008) and Eurostat (2011)
* According to the global accounting model
† Based on Chen and Ravallion (2008)

यह रिपोर्ट पिछले सालों में आबादी के अलग-अलग हिस्सों की आय में परिवर्तन को भी प्रस्तुत करती है (बीस-बीस प्रतिशत के पांच हिस्सों में)। चीन और भारत के आंकड़े इस प्रकार हैं :

तालिका–2

देश	साल	नीचे से ऊपर की ओर आबादी के बीस–बीस प्रतिशत का आय में हिस्सा				
		Q1	Q2	Q3	Q4	Q5
चीन	1990	6.5	11.2	15.9	26.4	40.0
	1995	6.5	10.5	14.7	21.3	47.1
	2000	4.7	9.0	14.2	22.1	50.0
	2005	5.7	9.8	14.7	22.0	47.8
भारत	1990	9.1	13.1	16.9	21.8	39.1
	1995	8.3	12.0	15.8	21.4	42.5
	2000	7.7	11.4	15.2	21.5	44.3
	2005	8.1	11.3	14.9	20.4	45.3

स्रोत : ANNEX 2

यूनिसेफ के ये आंकड़े जहां देशों के भीतर या व्यक्तियों के बीच असमानता को दर्शाते हैं वहीं संयुक्त राष्ट्र संघ की 2013 की रिपोर्ट 'असमानता एक मामला है' (Inequality Matters) देशों के बीच असमानता पर भी ध्यान केन्द्रित करती है। यह रिपोर्ट कहती है :

"वैश्विक पैमाने पर आय का वितरण बेहद असमान बना हुआ है। 2010 में उच्च आय वाले देशों में आबादी वैश्विक आबादी की केवल 16 प्रतिशत थी पर उनकी आय वैश्विक आय का 55 प्रतिशत थी। निम्न आय वाले देशों ने वैश्विक आय का बस

एक प्रतिशत से कुछ ही ज्यादा पैदा किया जबकि वहां वैश्विक आबादी का 72 प्रतिशत रहता है। उप-सहारा अफ्रीका में प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद 2014 डालर था जबकि यूरोपीय संघ में यह 27640 तथा उत्तरी अमेरिका में 41399 डालर था।

" ... ... 1980 से 2000 के बीच अंतर्राष्ट्रीय आय असमानता में काफी तेजी से वृद्धि हुई। ... ... कई कारकों ने इसमें भूमिका निभाई, खासकर 1980 के 'खो गये दशक' में लातिन अमेरिकी देशों में गिरती आय, और उप सहारा देशों में लम्बे समय तक चलने वाला आर्थिक विस्फोट तथा साथ ही 1980 के दशक के अंत और 1990 के दशक में संक्रमणशील देशों में आर्थिक विध्वंस ... ...। (Inequality Matters, Report on the World Social Situation, 2013, United Nations, P-25-26)

और अंत में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष! विश्व बैंक के साथ मिलकर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने ही सारे संकटग्रस्त देशों में ढांचागत समायोजन की शर्तें थोपीं थी जिनका मतलब था निजीकरण, उदारीकरण, वैश्वीकरण। अब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की एक रिपोर्ट कहती है :

"**बढ़ती असमानता चिंता का विषय है**। ज्यादातर सबसे विकसित, उभरते बाजारों और विकासशील देशों में असमानता बढ़ी है। यह ऐसी परिघटना है जिसने काफी ध्यान आकर्षित किया है। राष्ट्रपति ओबामा ने आय की बढ़ती असमानता को 'हमारे समय की निर्धारक चुनौती' कहा है। प्यू रिसर्च सेंटर (PRC, 2014) ने अपने एक सर्वेक्षण में पाया कि वैश्विक पैमाने पर 60 प्रतिशत से ज्यादा लोगों ने अमीरों और गरीबों के बीच बढ़ती खाई को एक बड़ी चुनौती माना। पोप फ्रांसिस ने 'सामाजिक बहिष्करण' के खिलाफ बात की है। ... ... आश्चर्यजनक नहीं है कि गैर-बराबरी की मात्रा, इसको गति प्रदान करने वाले कारक तथा इसका क्या किया जाये नीति निर्माताओं और शोधकर्ताओं में समान रूप में कुछ सबसे गरमागरम बहस के मुद्दे बन गये हैं।" (Causes and Consequences of income Inequality : A Global Perspective, International Monetory Fund, June 2015, P-5)

यह रिपोर्ट बताती है कि मध्यम वर्ग तथा सबसे ऊपर के 1 प्रतिशत ने सबसे ज्यादा आय हासिल की है जबकि नीचे की 50 प्रतिशत आबादी को नीचे धकेला गया है। असल में वास्तविक वृद्धि ऊपर के दस प्रतिशत और उसमें भी एक प्रतिशत ने हासिल की है। विकसित देशों में मध्यम वर्ग निचुड़ा है। यह रिपोर्ट बताती है कि धन-सम्पदा में असमानता आय से भी ज्यादा है। ऊपर के एक प्रतिशत लोग दुनिया की लगभग आधी धन-सम्पदा के माालिक हैं-1.1 लाख अरब डालर के यानी नीचे की 50 प्रतिशत आबादी के 65 गुने के बराबर। दुनिया के सारे देशों में ऊपर के एक प्रतिशत की धन-सम्पदा नीचे के 90 प्रतिशत की कीमत पर बढ़ रही है।

इसके बाद यह रिपोर्ट बढ़ती असमानता के उन्हीं कारणों को बताती है जिन्हें मिथक कह कर ऑक्सफैम की रिपोर्ट में नकारा गया था। कुछ एक कारण वे भी हैं जो इसी संस्था के ढांचागत समायोजन के तहत लागू किये गये थे। इस बढ़ती असमानता के समाधान के तौर पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास फिर वही नीतियां हैं जिन्होंने यह असमानता बढ़ाई है। बस उन्हें ठीक से लागू किया जाना चाहिए। मसलन यह स्वीकार किया गया है कि बढ़ती असमानता का एक कारण श्रम का लचीलापन है जो उदारीकरण के दौर का एक बड़ा लक्ष्य रहा है (और भारत के पूंजीपति वर्ग की इस समय प्रमुख मांग है)। पर समाधान के तौर पर कहा गया है कि लचीलापन इस तरह से लागू किया जाय कि कार्यकुशलता का नुकसान न हो पर इससे असमानता न बढ़े। इसे कहते हैं असम्भव को संभव कर दिखाना।

II

थॉमस पिकेटी की किताब-'इक्कीसवीं सदी में पूंजी'

यही वह वैश्विक स्थिति है जिसमें थॉमस पिकेटी की किताब-'इक्कीसवीं सदी में पूंजी'- प्रकाशित हुई। इस किताब का यह नामकरण अनायास नहीं है। यह कार्ल मार्क्स की 'पूंजी' की सीधी नकल है। वस्तुतः यह किताब मार्क्स की 'पूंजी' से सीधी प्रतिद्वन्द्विता करती है और इसका एक प्रमुख उद्देश्य पूंजीवाद के बारे में मार्क्स के निष्कर्षों को नकारना है। थॉमस पिकेटी अपने इस उद्देश्य को छिपाते भी नहीं हैं। अपनी किताब के पहले ही दो पैराग्राफ में वे यह लिखते हैं :

"धन-सम्पदा का वितरण आज का एक सबसे अधिक व्यापक रूप से चर्चित और विवादित विषय है। लेकिन दूरगामी तौर पर इसके उद्विकास (evolution) के बारे में हम वास्तव में क्या जानते हैं? क्या निजी पूंजी संचय की गतिकी अनिवार्य रूप से लगातार कम से कम हाथों में धन-सम्पदा के संकेन्द्रण की ओर ले जाती है जैसा कि उन्नीसवीं सदी में कार्ल मार्क्स को विश्वास था? या कि वृद्धि, प्रतियोगिता और तकनीकी की प्रगति की संतुलनकारी शक्तियां बाद के काल में कम असमानता और वर्गों के बीच ज्यादा समरसता की ओर ले जाती हैं जैसा कि साइमन कुजनेट्स बीसवीं सदी में सोचते थे? धन-सम्पदा और आय का अठारहवीं सदी से जैसा विकास हुआ है उसके बारे में हम वास्तव में क्या जानते हैं और उस ज्ञान से हम इक्कीसवी सदी के बारे में, जो अब जारी है, क्या सबक निकाल सकते हैं?

"ये वे सवाल हैं जिनका जवाब मैं इस किताब में देने का प्रसास करता हूं। मुझे अभी ही यह कहने की इजाजत दीजिये कि यहां दिये गये जवाब दोषमुक्त और पूर्ण नहीं हैं। ये पहले के शोधकर्ताओं के उपलब्ध आंकड़ों से ज्यादा व्यापक ऐतिहासिक और तुलनात्मक आंकड़ों पर आधारित हैं जो तीन शताब्दियों और बीस से ज्यादा देशों को शामिल करते हैं। साथ ही ये एक नये सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क पर आधारित हैं जो अंतर्निहित गतिकी को ज्यादा अच्छी तरह से समझता है। आधुनिक आर्थिक विकास और ज्ञान

के प्रसार ने मार्क्सवादी कयामत से बचना संभव बना दिया है पर उन्होंने पूंजी और गैर-बराबरी की गहरी संरचनाओं को परिवर्तित नहीं किया है। या कम से कम उतना नहीं जितना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के आशावादी दशकों में कोई कल्पना कर सकता था। जब पूंजी पर प्रतिफल दर (rate of return) उत्पादन और आय की वृद्धि की दर से ज्यादा हो जाती है, जैसा कि वह उन्नीसवीं सदी में थी और इक्कीसवीं सदी में होती दीख रही है। पूंजीवाद स्वतः ही मनमानी और अरक्षणीय (Unsustainable) गैर-बराबरी को पैदा करता है जो उत्कृष्टता के उन मूल्यों को नष्ट करता है जिन पर कोई जनतांत्रिक समाज आधारित होता है। जो भी हो, इस सबके बावजूद वे रास्ते हैं जिनके जरिये जनतंत्र पूंजीवाद पर नियंत्रण कायम कर सकता है और सुनिश्चित कर सकता है कि सामूहिक हित व्यक्तिगत हितों पर वरीयता हासिल करे, साथ ही आर्थिक खुलेपन को बनाये रखे और संरक्षणवादी तथा राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं से बचे। जिन नीतियों की इस किताब के अंत में मैं संस्तुति करता हूं वे इसी दिशा में हैं ... ... वे ऐतिहासिक अनुभव से निकाले गये सबकों पर आधारित हैं ... ... (Thomas Piketty, Capital in the Twenty First Century, The Belknap Press of Harvard University Press, London, 2014, P-1-2)

और वे क्या सबक हैं जो थॉमस पिकेटी ने अपने अध्ययन से निकाले हैं? उन्होंने दो प्रमुख निष्कर्ष निकाले हैं। वे लिखते हैं:

"वे कौन से प्रमुख निष्कर्ष हैं जिन पर इन नये ऐतिहासिक स्रोतों ने मुझे पहुंचाया है? पहला यह कि धन-सम्पदा और आय की असमानता के संबंध में आर्थिक नियतत्ववाद से बचना चाहिए। धन- सम्पदा के वितरण का इतिहास हमेशा से गहरा राजनीतिक रहा है और यह केवल आर्थिक गतिकी तक सीमित नहीं किया जा सकता। खास तौर पर 1910 और 1950 के बीच सबसे विकसित देशों के बीच गैर-बराबरी में जो कमी आई वह सबसे बढ़कर युद्ध और युद्ध के धक्कों को संभालने के लिए बनाई गई नीतियों का परिणाम थी। इसी तरह 1980 के बाद असमानता में फिर से वृद्धि ज्यादातर पिछले कुछ दशकों में राजनीतिक तब्दीली का परिणाम है, विशेष तौर पर कर और वित्त के मामले में। असमानता का इतिहास न्याय और अन्याय के बारे में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कर्ताओं के दृष्टिकोण से तथा इसके परिणामस्वरूप सामूहिक चुनाव से तय होता है। यह सभी प्रासंगिक कर्ताओं का सामूहिक उत्पाद होता है।

"दूसरा निष्कर्ष, जो किताब का मर्म है, यह है कि धन-सम्पदा के वितरण की गतिकी उन शक्तिशाली गतियों को उजागर करती है जो बारी-बारी से प्रसरण और अभिसरण (Divergence and convergence) की ओर ले जाते हैं। इससे भी आगे, ऐसी कोई प्राकृतिक, स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया नहीं है जो अस्थिरताकारी और असमानतावादी शक्तियों को स्थाई रूप में हावी होने से रोक दे।" (वही, पृष्ठ-20-21)

इसी निष्कर्ष को पिकेटी साढ़े तीन सौ पृष्ठ बाद एक बार फिर दोहराते हैं:

"... ... ... ऐसा सोचना भ्रम है कि आधुनिक वृद्धि की प्रकृति या बाजार अर्थव्यवस्था के नियम यह सुनिश्चित करते हैं कि धन-सम्पदा की गैर-बराबरी कम होगी और समरसतावादी स्थिरता हासिल होगी।" (वही, पृष्ठ-376)

इन निष्कर्षों को पुष्ट करने के लिए पिकेटी न केवल एक ऐतिहासिक आख्यान प्रस्तुत करते हैं बल्कि आंकड़ों का एक पूरा अंबार प्रस्तुत करते हैं (इन आंकड़ों की व्याख्या जिस सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क से की जाती है उस पर अगले हिस्से में बात की जायेगी)। वास्तव में इस पुस्तक की सबसे बड़ी खूबी ये आंकड़े ही हैं और इनका इस पुस्तक की लोकप्रियता में बड़ा हाथ है। धन-सम्पदा और आय की गैर-बराबरी के बारे में आज जो पत्रकारी आंकड़े प्रस्तुत किये जाते हैं (जो यहां पहले हिस्से में दिये गये हैं) उनके मुकाबले यहां अकादमी कठोरता के साथ आंकड़े जुटाये और प्रस्तुत किये गये हैं। पिकेटी के उद्देश्यों और निष्कर्षों को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करने के बाद इस हिस्से में हम इन आंकड़ों में से कुछ को प्रस्तुत करेंगे जिससे गैर-बराबरी का एक ऐतिहासिक चित्र बन सके।

पिकेटी विभिन्न ऐतिहासिक कालों और स्थानों को मिलाकर तीन तालिकाएं प्रस्तुत करते हैं जो आय और धन-सम्पदा की प्रवृत्ति को रोचक ढंग से पेश करती है। वे तालिकाएं इस प्रकार हैं :

तालिका–3

विभिन्न काल और स्थान में आय की गैरबराबरी			
कुल श्रम आय में विभिन्न समूहों का हिस्सा	नीची असमानता (स्कैन्डेनेविया 1970's–1980's)	मध्यम असमानता (यूरोप, 2010)	ऊंची असमानता (सं.रा. अमेरिका 2010)
ऊपरी 10 प्रतिशत (उच्च वर्ग)	20%	25%	35%
ऊपरी 1 प्रतिशत	5%	7%	12%
ऊपरी 9 प्रतिशत	15%	18%	23%
बीच का 40 प्रतिशत	45%	45%	40%
निचला पचास प्रतिशत	35%	30%	25%

lkr ogh, Table7.1

तालिका–4

पूंजी की गैर बराबरी					
कुल पूंजी में विभिन्न समूहों का हिस्सा	**नीची गैर बराबरी (कभी नहीं?)**	**मध्यम गैरबराबरी (स्कैन्डेनेविया 1970's–1980's)**	**मध्यम–उच्च गैरबराबरी (यूरोप 2010)**	**उच्च गैरबराबरी (सं.रा. अमेरिका 2010)**	**अत्यधिक ऊंची गैरबराबरी (यूरोप 1910)**
ऊपरी 10 प्रतिशत (उच्च वर्ग)	30%	50%	60%	70%	90%
ऊपरी 1 प्रतिशत	10%	20%	25%	35%	50%
ऊपरी 9 प्रतिशत	20%	30%	35%	35%	40%
बीच का चालीस प्रतिशत	45%	40%	35%	25%	5%
निचला पचास प्रतिशत	25%	10%	5%	5%	5%

lkr ogh, Table7.2

तालिका–5

कुल आय (पूंजी और श्रम) में गैरबराबरी

कुल आय में विभिन्न समूहों का हिस्सा	**गैरबराबरी स्कैन्डेनेविया 1970's–1980's)**	**मध्यम गैर–बराबरी (यूरोप 2010)**	**उच्च गैरबराबरी (सं.रा. अमेरिका 2010 यूरोप, 1910)**
ऊपरी 10 प्रतिशत (उच्च वर्ग)	25%	35%	50%
ऊपरी 1 प्रतिशत	7%	10%	20%
ऊपरी 9 प्रतिशत	18%	25%	30%
बीच का चालीस प्रतिशत	45%	40%	30%
निचला पचास प्रतिशत	30%	25%	20%

lkr ogh: Table7.3

इन तालिकाओं के आंकड़ों को ये चित्र भी बखूबी प्रदर्शित करते हैं,

चित्र-2

ऐंग्लो-सैक्सन देशों में उच्चतम एक प्रतिशत की आय

Income inequility in Anglo-Sexon countries, 1910-2010

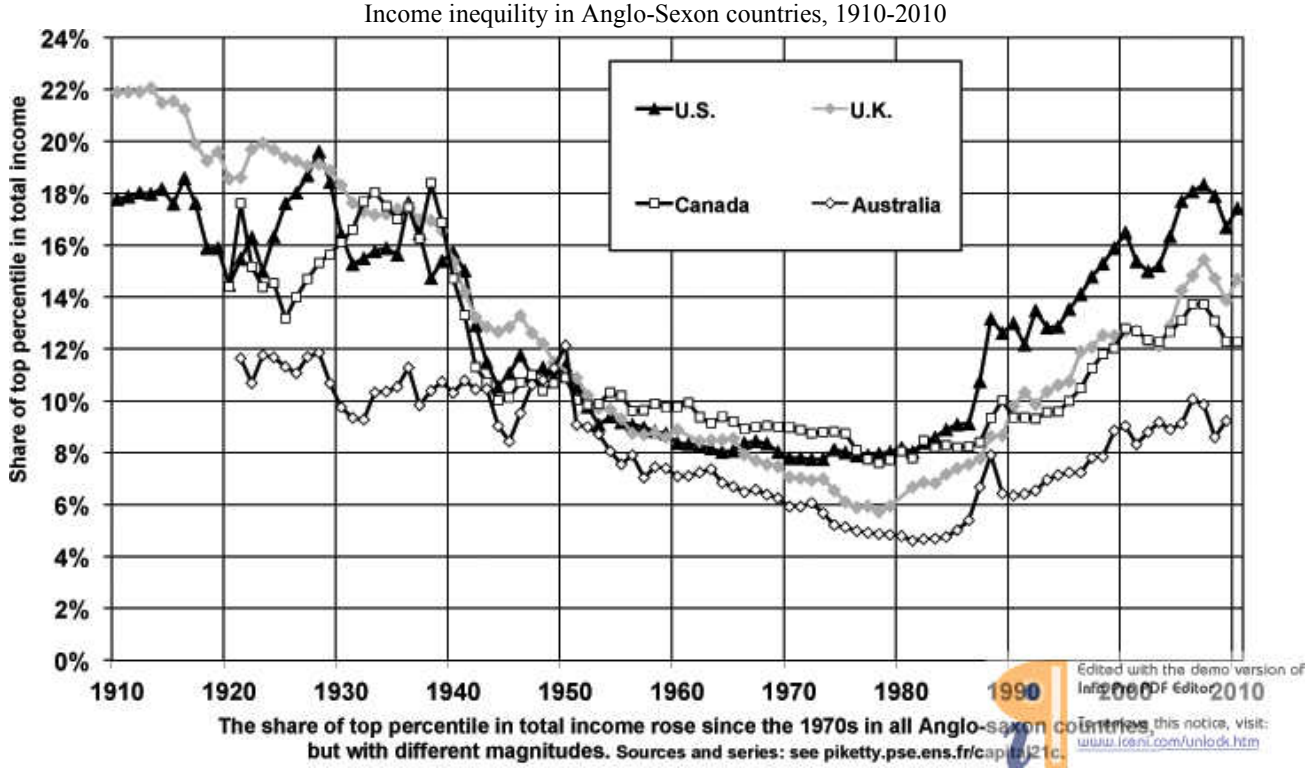

Edited with the demo version of Infix PDF Editor
To remove this notice, visit: www.iceni.com/unlock.htm

चित्र-3

महाद्वीपीय यूरोप और जापान में उच्चतम एक प्रतिशत की आय

Income inequility in Continental Europe and Japan, 1910-2010

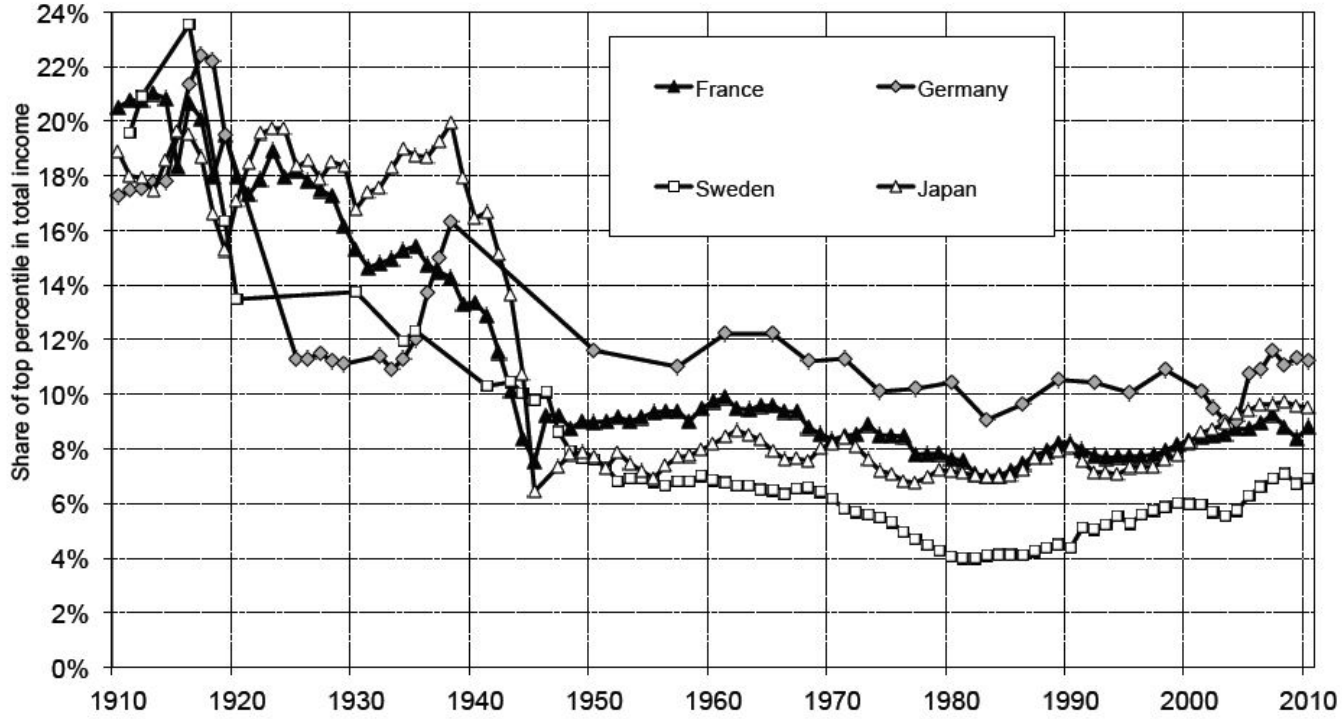

As compared to Anglo-saxon countries, the share of top percentile barely increased since the 1970s in Continental Europe and Japan. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-4

उत्तरी और दक्षिणी यूरोप में उच्चतम एक प्रतिशत की आय

Income inequility in Northern and Southern Europe,1910-2010

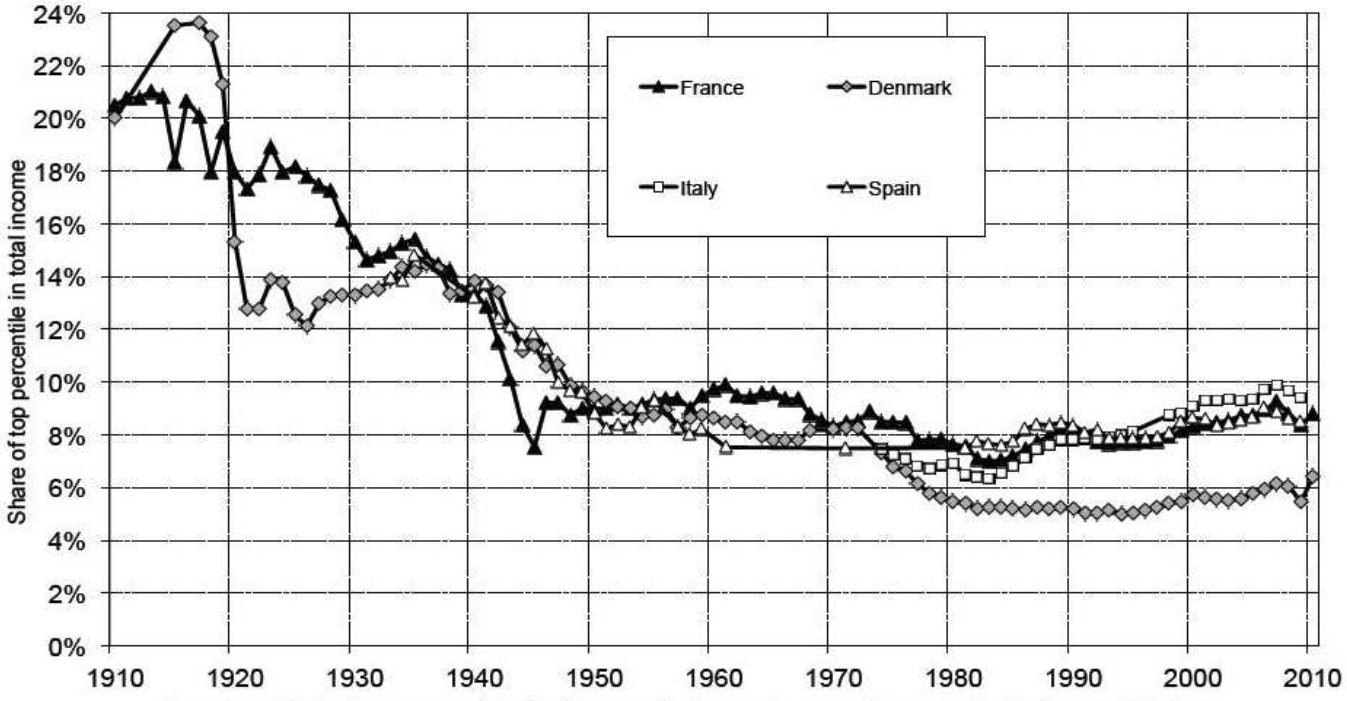

As compared to Anglo-saxon countries, the top percentile income share barely increased in Northern and Southern Europe since the 1970s. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c

चित्र-5

उभरते देशों में उच्चतम 1 प्रतिशत की आय

Income inequality in emerging contries,1910-2010

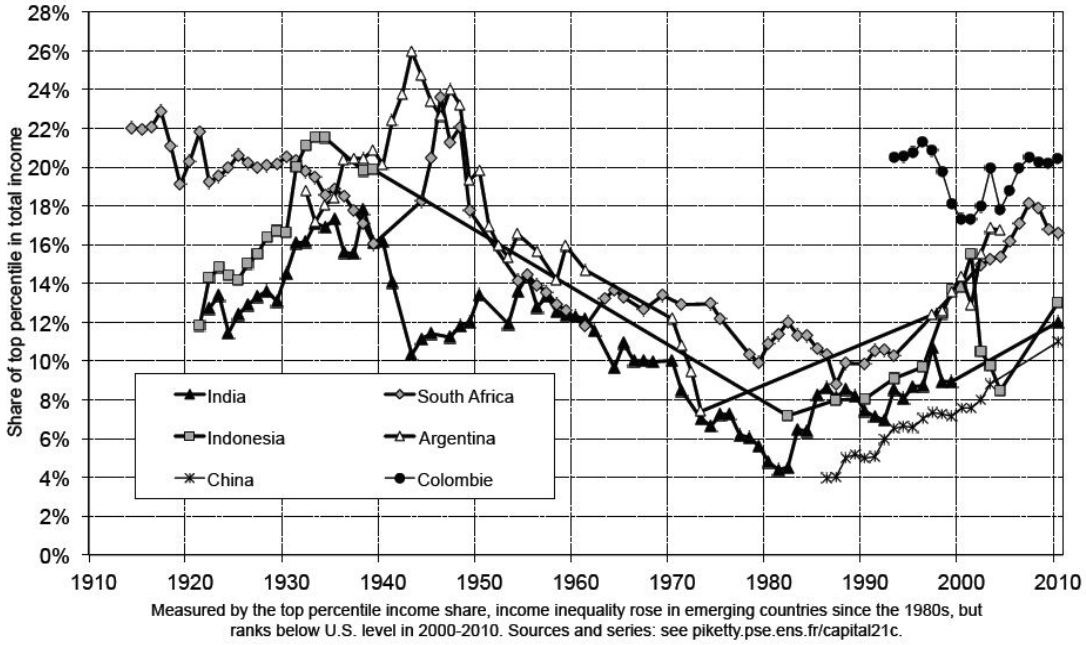

Measured by the top percentile income share, income inequality rose in emerging countries since the 1980s, but ranks below U.S. level in 2000-2010. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-6

यूरोप-अमेरिका में उच्चतम दस प्रतिशत की आय

The top decile income share in Europe the United States, 1900-2010

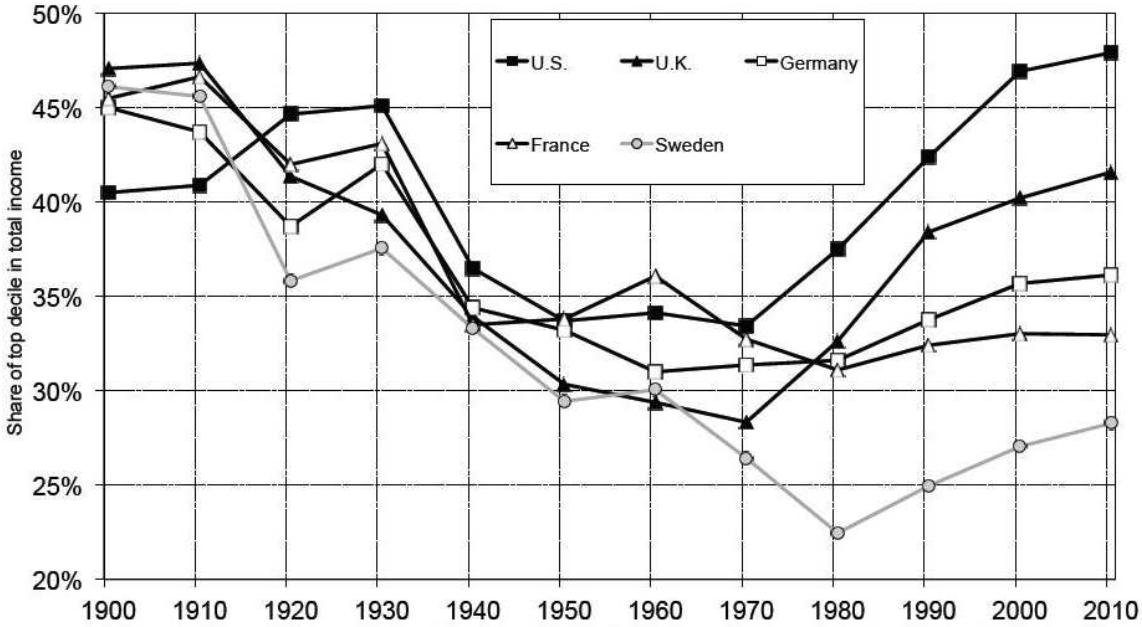

In the 1950s-1970s, the top decile income share was about 30-35% of total income in Europe as in the U.S. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-7

यूरोप-अमेरिका में उच्चतम दस प्रतिशत की आय

Income inequality in Europe versus the United States, 1900-2010

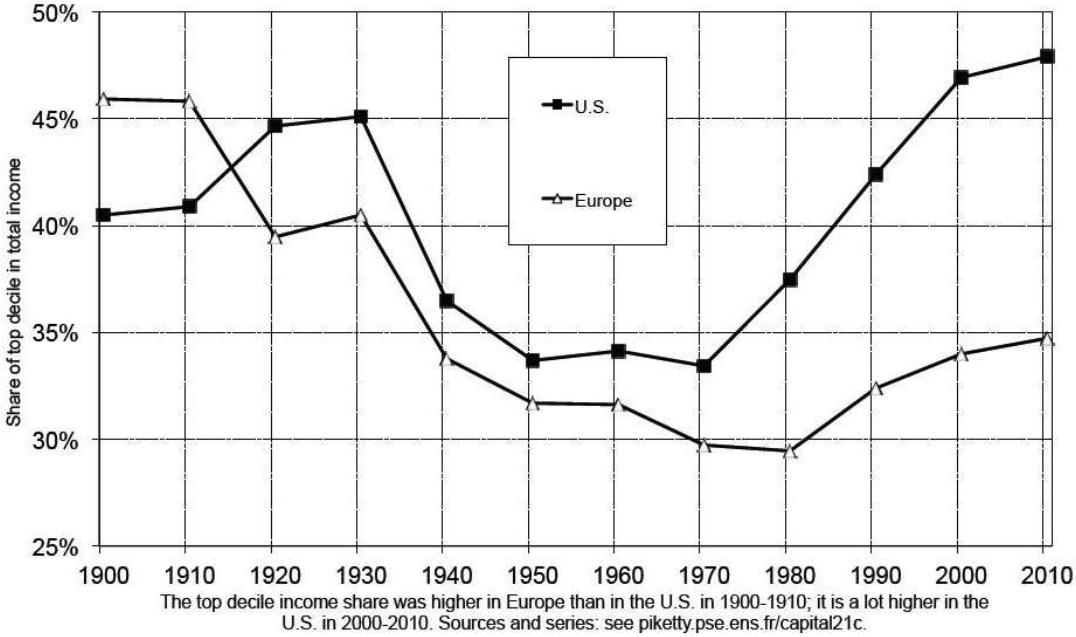

The top decile income share was higher in Europe than in the U.S. in 1900-1910; it is a lot higher in the U.S. in 2000-2010. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-8

फ्रांस में धन-सम्पदा की गैर-बराबरी

Wealth Inequality in France, 1810-2010

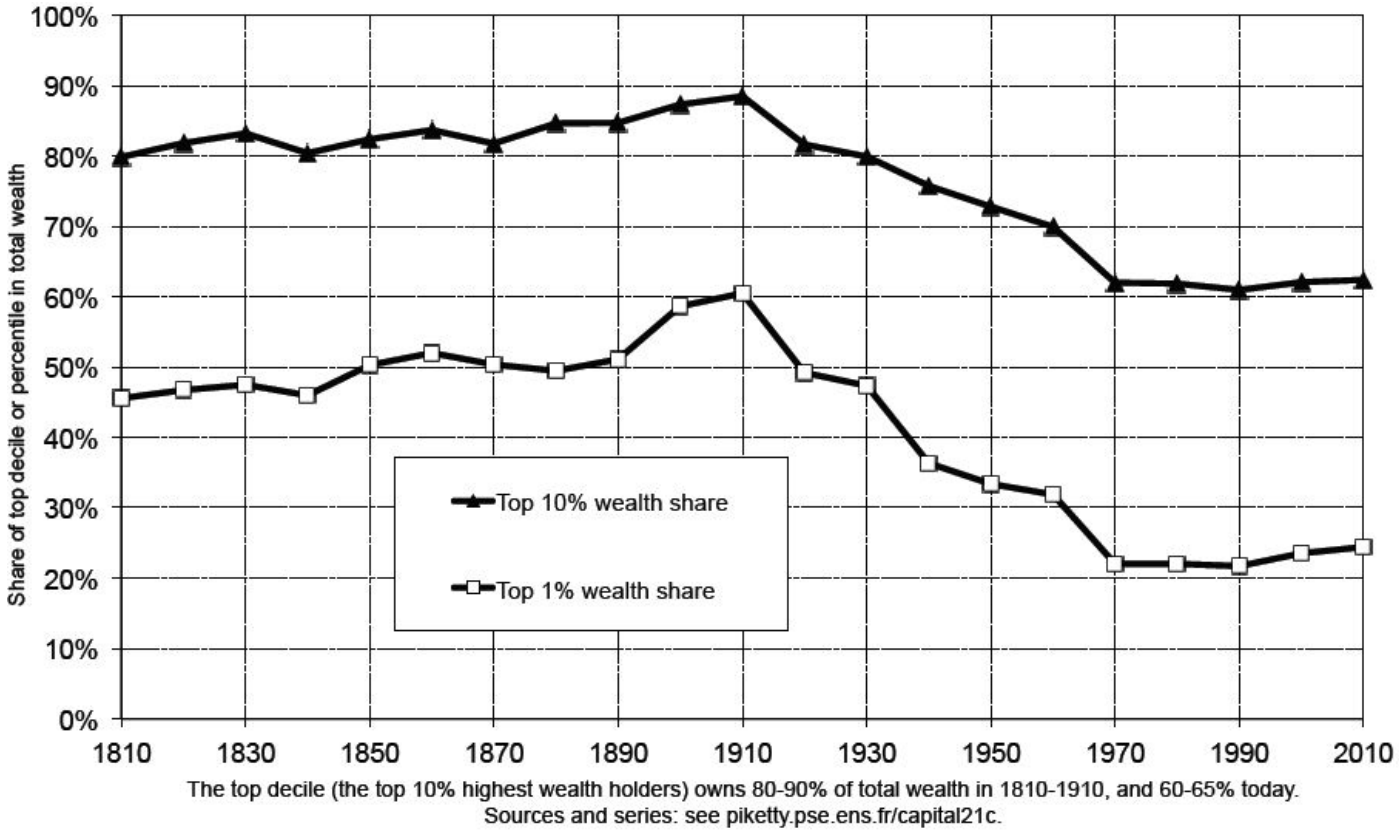

The top decile (the top 10% highest wealth holders) owns 80-90% of total wealth in 1810-1910, and 60-65% today.
Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-9

ब्रिटेन में धन-सम्पदा की गैर-बराबरी

Wealth Inequality in Britain, 1810-2010

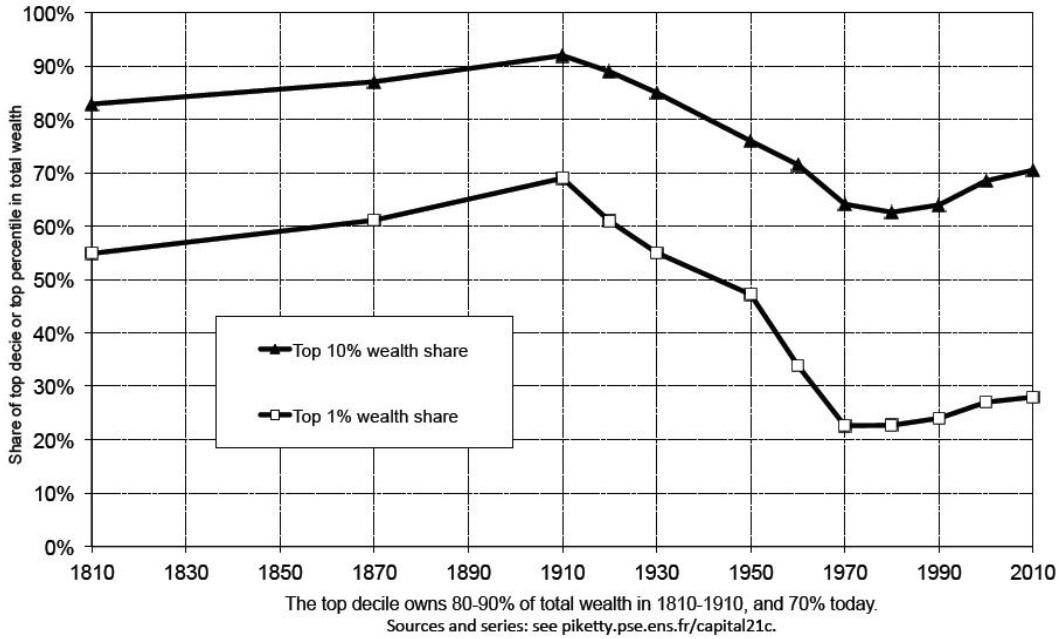

चित्र-10

स्वीडन में धन-सम्पदा की गैर-बराबरी

Wealth Inequality in Sweden, 1810-2010

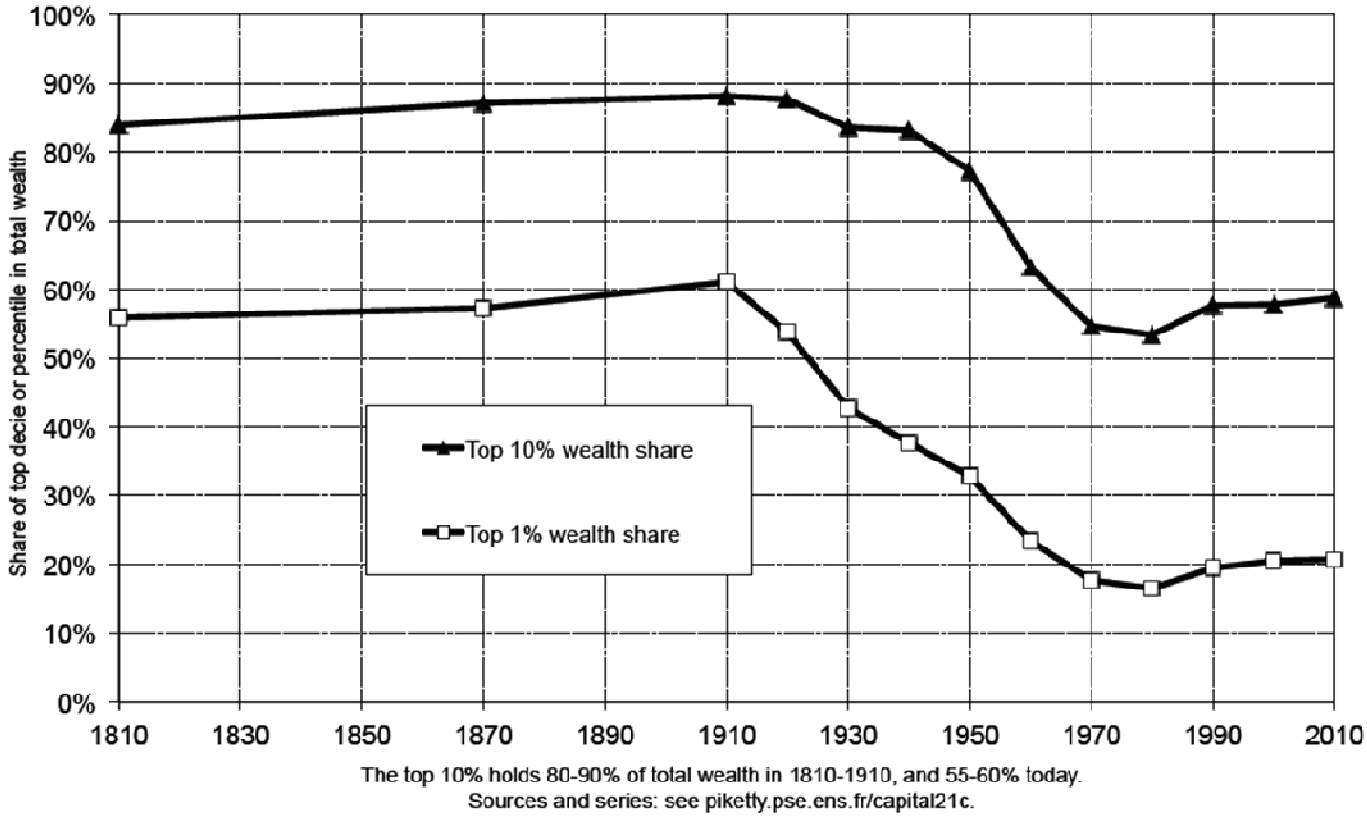

चित्र-11

सं.रा. अमेरिका में धन-सम्पदा की गैर-बराबरी

Wealth Inequality in the United States, 1810-2010

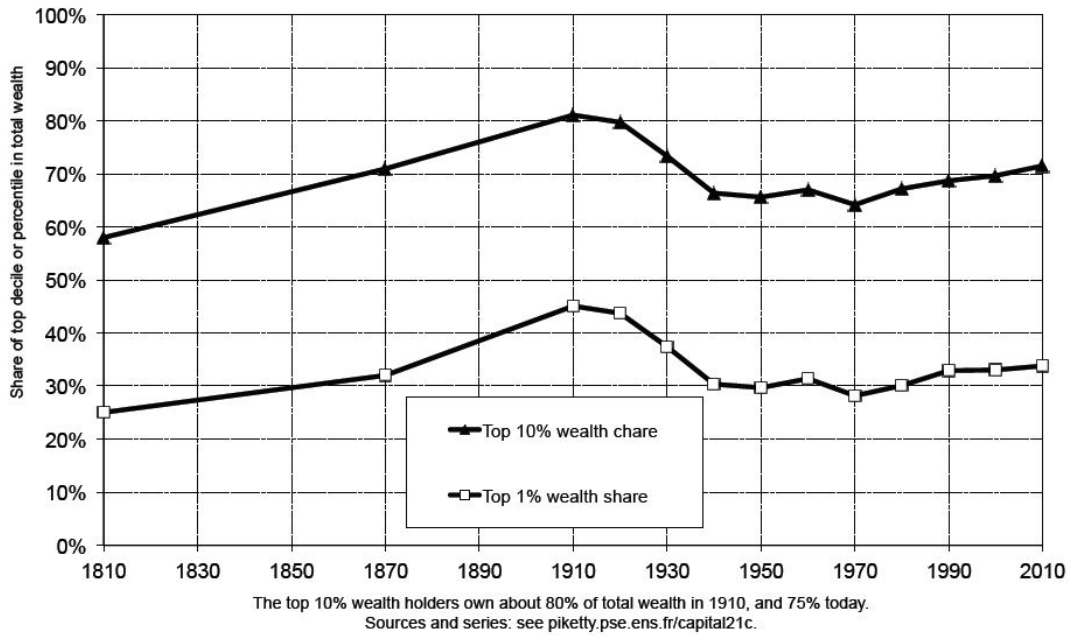

The top 10% wealth holders own about 80% of total wealth in 1910, and 75% today.
Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-12

यूरोप और सं.रा. अमेरिका में धन-सम्पदा की गैर-बराबरी

Wealth Inequality in Europe versus the United States, 1810-2010

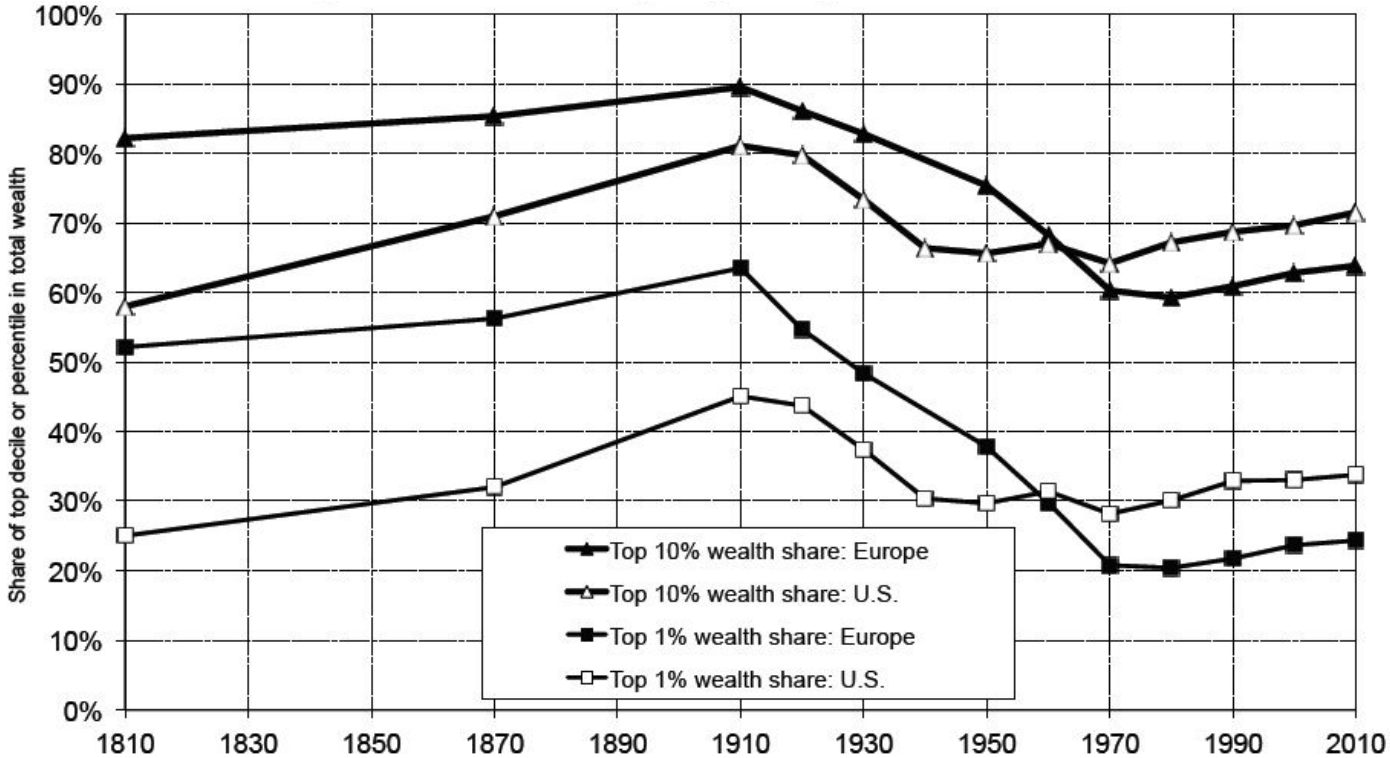

Until the mid 20th century, wealth inequality was higher in Europe than in the United States.
Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

उच्चतम संस्तरों की आय और धन-सम्पदा का एक ऐतिहासिक चित्र प्रस्तुत करने के बाद पिकेटी फोर्ब्स पत्रिका द्वारा प्रस्तुत आज के अरबपतियों का एक चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। वह इस प्रकार है :

चित्र-13

फोर्ब्स के अनुसार अरबपति

The world's billionaires according to Forbes,1987-2013

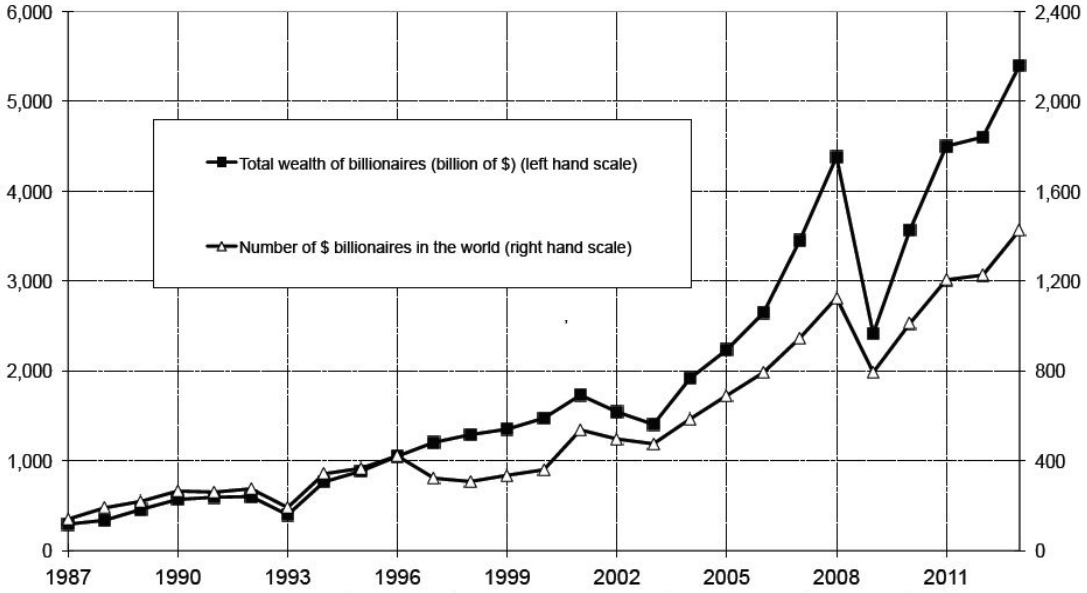

Between 1987 and 2013, the number of $ billionaires rose according to Forbes from 140 to 1400, and their total wealth rose from 300 to 5 400 billion dollars. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-14

अरबपतियों की वैश्विक आबादी और धन-सम्पदा में हिस्सेदारी

Billionaires as a Fraction of global population and wealth 1987-2013

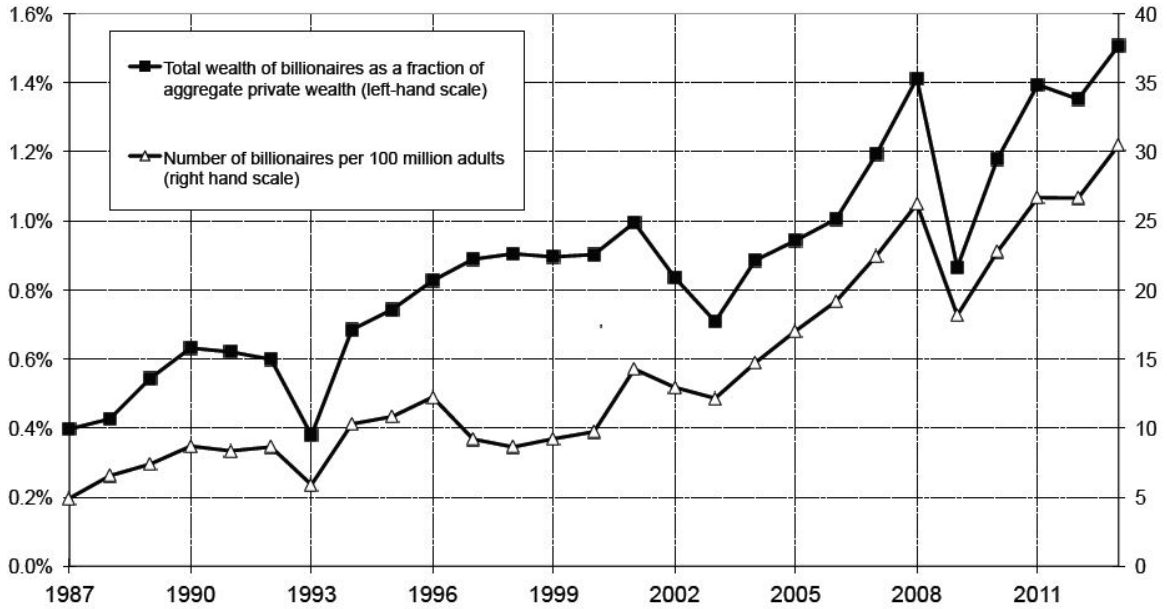

Between 1987 and 2013, the number of billionaires per 100 million adults rose from 5 to 30, and their share in aggregate private wealth rose from 0.4% to 1.5%. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-15

अत्यल्प लोगों की वैश्विक धन-सम्पदा में हिस्सेदारी

The share of top wealth fractiles in world wealth 1987-2013

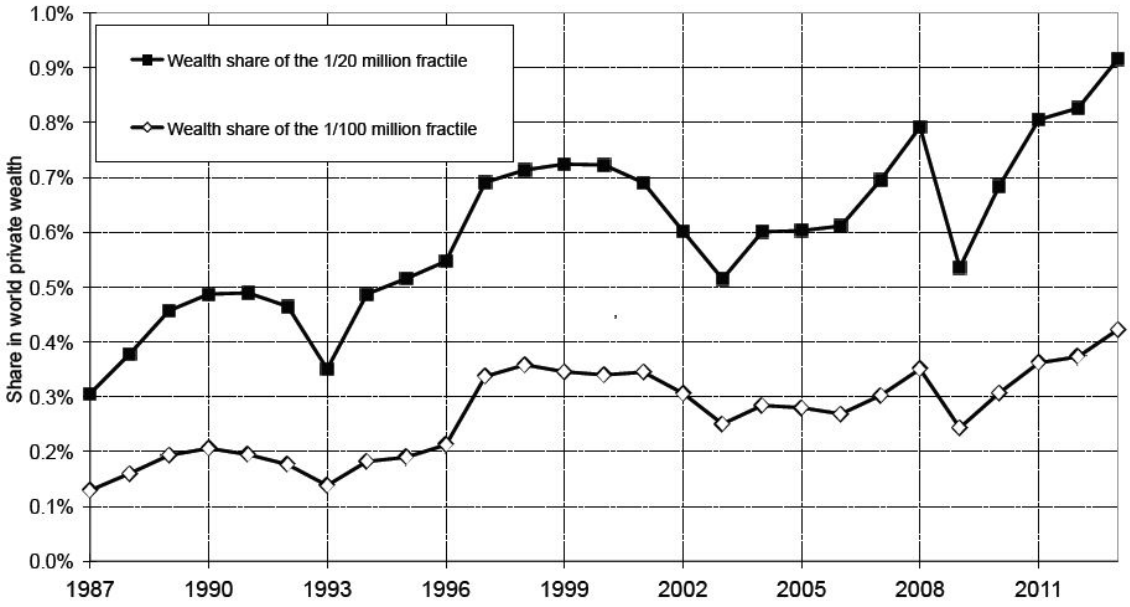

Between 1987 and 2013, the share of the top 1/20 million fractile rose from 0.3% to 0.9% of world wealth, and the share of the top 1/100 million fractile rose from 0.1% to 0.4%. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

करों का पूंजीवाद की गतिकी में बड़ा योगदान रहा है। पिकेटी अपना सारा समाधान करों पर ही आधारित करते हैं। इसलिए वे इसका भी एक ऐतिहासिक चित्र प्रस्तुत करते हैं।

चित्र-16

धनी देशों में कर राजकोष

Tax revenues in rich countries, 1870-2010

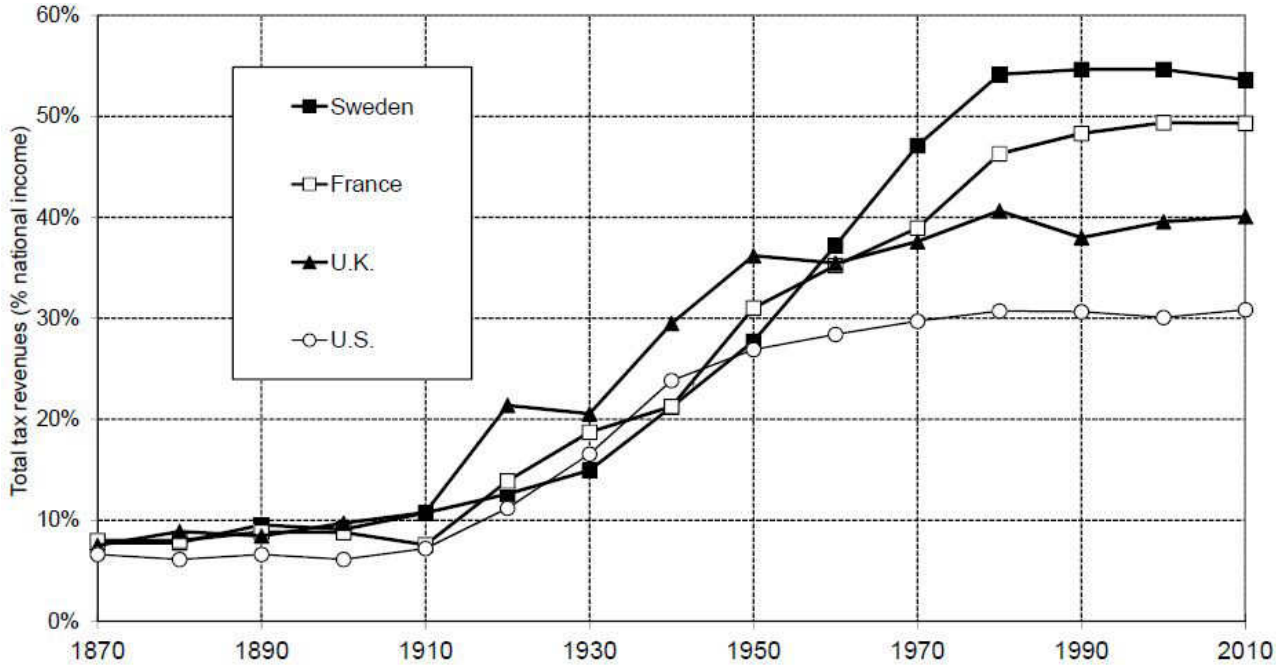

Total tax revenues were less than 10% of national income in rich countries until 1900-1910; they represent between 30% and 55% of national income in 2000-2010. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

च्चतम आय कर दरें

Top income tax rates 1900-2013

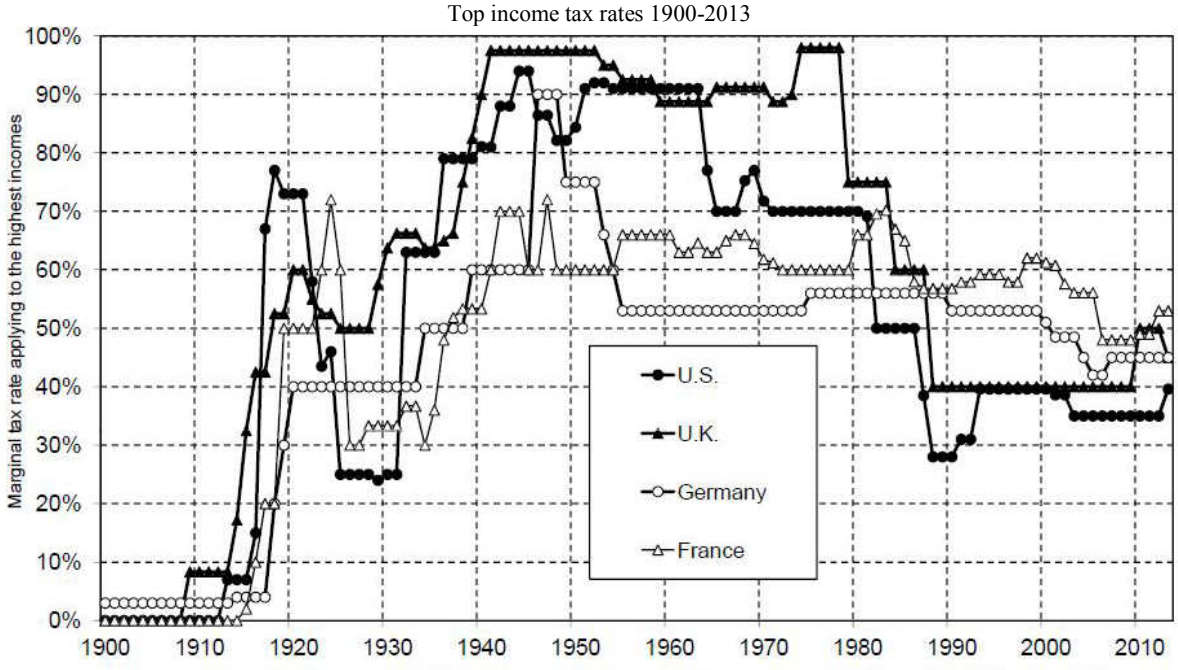

The top marginal tax rate of the income tax (applying to the highest incomes) in the U.S. dropped from 70% in 1980 to 28% in 1988. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

चित्र-18

उच्चतम वसीयत दरें

Top inheritance rates 1900-2013

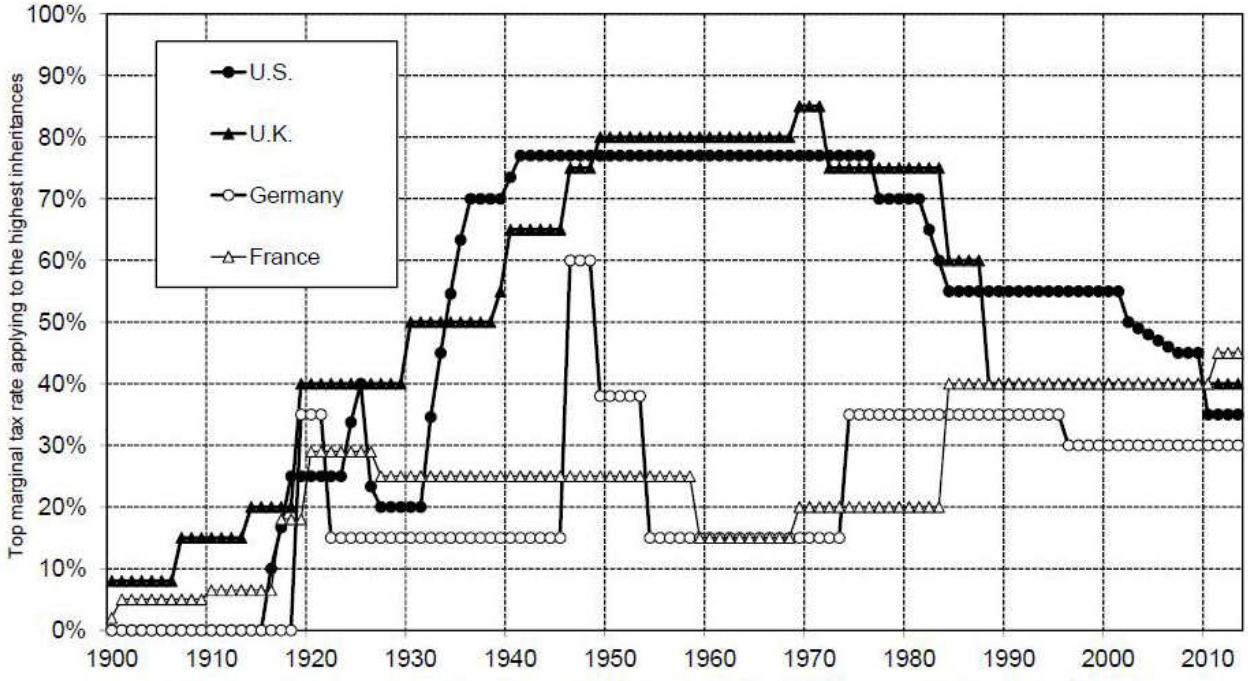

The top marginal tax rate of the inheritance tax (applying to the highest inheritances) in the U.S. dropped from 70% in 1980 to 35% in 2013. Sources and series: see piketty.pse.ens.fr/capital21c.

इन आंकड़ों और चित्रों को प्रस्तुत करते हुए पिकेटी एक ऐतिहासिक आख्यान भी प्रस्तुत करते हैं। चूंकि पिकेटी गणितीय मॉडलों वाले अर्थशास्त्र में नहीं बल्कि राजनीतिक अर्थशास्त्र में विश्वास करते हैं, इसलिए उनके लिए यह करना जरूरी और संभव हो जाता है। स्वयं उनके अनुसार आर्थिक परिघटनाओं की व्याख्या के लिए इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति इत्यादि सभी की जरूरत बनती है।

उनके अनुसार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बहुत सारे लोगों के विश्वास के विपरीत आय और धन-सम्पदा की असमानता तेजी से बढ़ती गई और यह उन्नीसवीं सदी के अंत और प्रथम विश्व युद्ध के पहले चरम पर जा पहुंची तब निजी हाथों में धन-सम्पदा राष्ट्रीय आय के पांच से सात गुने तक जा पहुंची थी। उसके बाद एक बेहद उथल-पुथल का काल आया जो प्रथम विश्व युद्ध से शुरू होकर द्वितीय विश्व युद्ध तक जारी रहा। इस काल में बहुत बड़े पैमाने का विनाश करने वाले दो विश्व युद्ध हुए और बीच में एक भयानक महामंदी आई। इस बीच मुद्रा स्फीति की दर काफी ऊंची रही और कई देशों में तो तात्कालिक तौर पर आसमान पर जा पहुंची।

इन सबने मिलकर धन-सम्पदा की असमानता को बहुत कम कर दिया। कुल निजी धन-सम्पदा राष्ट्रीय आय के दो से चार गुने तक नीचे आ गई। सरकारों ने युद्ध के दौरान जो उपाय किये, खासकर द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उससे बेरोजगारी घटी और मजदूरी बढ़ी। इन सब कारणों से आय की असमानता भी कम हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सभी विकसित देशों की सरकारों ने करों की दरें बढ़ाकर आय इकट्ठी की और इसे कल्याणकारी मदों पर खर्च किया। दूसरी ओर इस दौरान (करीब तीन दशक तक) वृद्धि दर भी ऊंची रही। इससे लोगों के जीवन में बेहतरी हुई पर असमानता नहीं बढ़ी। पर 1970 के दशक से उल्टी गति आरंभ हुई। वृद्धि दर काफी घट गई। करों की दरों में कमी हुई। सरकारों का कर्ज बढ़ा। अब एक बार फिर आय और धन-सम्पदा की असमानता बढ़ने लगी और सं.रा. अमेरिका जैसे देशों में तो हालात बीसवीं सदी की शुरुआत जैसे पहुंचने लगे हैं; हालांकि यूरोप में स्थिति कुछ बेहतर है। पिकेटी के अनुसार यदि कुछ किया नहीं गया और वर्तमान प्रवृत्ति जारी रही तो सभी जगह हालात बीसवीं सदी की शुरुआत जैसे या उससे भी बदतर हो सकते हैं।

इस सबके समाधान के तौर पर पिकेटी 1950-60 के दशक वाले 'कल्याणकारी' राज्य (जिसे वे सामाजिक राज्य कहते हैं), एक प्रगतिशील आय कर व्यवस्था, पूंजी पर वैश्विक कर तथा धन-सम्पदा पर कर लगाकर आज सरकारों पर बोझ बने सरकारी कर्जों के खात्मे की वकालत करते हैं। इसमें उनकी ओर से सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव पूंजी पर वैश्विक कर है जिसे वे स्वयं भी कल्पनावादी मानते हैं।

III

थॉमस पिकेटी के तर्क

आय और पर धन-सम्पदा की असमानता की ऐतिहासिक गति की व्याख्या के लिए पिकेटी यदि केवल ऊपर वर्णित ऐतिहासिक आख्यान तक सीमित रहते तो व्याख्या आधी-अधूरी होने के बावजूद किसी हद तक संतोषजनक होती। आधी -अधूरी इसलिए कि इसमें बीसवीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण परिघटना समाजवादी व नवजनवादी क्रांतियों और उनके द्वारा स्थापित समाजवादी राज्यों का कोई जिक्र नहीं है जिनके बिना न तो बीसवीं सदी के इतिहास की व्याख्या की जा सकती है और न ही 'कल्याणकारी राज्य' की। पर थॉमस पिकेटी इस ऐतिहासिक आख्यान से आगे जाते हैं और असमानता की व्याख्या के लिए एक सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क पेश करते हैं।

थॉमस पिकेटी नव शास्त्रीय (Neo-classical) धारा के 'राजनीतिक अर्थशास्त्री' हैं। इस धारा के अपने कुछ निश्चित सूत्र हैं। पर इन पर आने से पहले स्वयं पिकेटी के शब्दों में उनके बारे में सुनें। यह काफी शिक्षाप्रद है।

> "मैं उस पीढ़ी का हूं जो 1989 में अठारह साल की हुई। 1989 न केवल फ्रांसीसी क्रांति द्विशताब्दी वर्ष था बल्कि यह वह साल भी था जब बर्लिन की दीवार ढह गई। मैं उस पीढ़ी का हूं जो कम्युनिस्ट तानाशाहियों के ध्वस्त हो जाने की खबरें सुनती हुई परिपक्व हुई थी और इसीलिए जिसके मन में उन सत्ताओं या सोवियत संघ के प्रति जरा भी लगाव या अतीत मोहग्रस्तता नहीं थी। मैं सारी जिन्दगी के लिए परम्परागत परन्तु आलस भरे पूंजीवाद विरोध के शब्दाडम्बर के प्रति अभेद्य हो गया, जिसमें से कुछ तो कम्युनिज्म की ऐतिहासिक असफलता को नजरअंदाज करता था जबकि ज्यादातर इससे पार जाने के लिए बौद्धिक संसाधनों से पीठ मोड़ता था। असमानता या पूंजीवाद को अपने आप में खारिज करने में मेरी कोई रुचि नहीं थी-खासकर इसलिए कि सामाजिक असमानता अपने आप में समस्या नहीं है जब तक कि यह न्यायोचित हो यानी 'सामूहिक उपयोगिता पर आधारित हो' जैसा कि 1789 के 'मानव और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' की धारा एक कहती है। (हालांकि सामाजिक न्याय की यह परिभाषा असटीक पर मोहक है, यह इतिहास पर आधारित है। अभी हम इसे बस स्वीकार कर लें। मैं इस पर बाद में वापस लौटूंगा।) इसके मुकाबले मैं समाज को संगठित करने के सबसे बेहतर तरीके और सबसे सटीक संस्थाओं और नीतियों के बारे में बहस में योगदान करने में रुचि रखता हूं, भले ही यह कितना कम हो, जो एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था कायम करें। इससे भी आगे, मैं न्याय को कानून के शासन के तहत प्रभावी और कुशल तरीके से हासिल होते देखना चाहता हूं, ऐसे कानून के शासन के तहत जो सब पर समान रूप से लागू होता हो और जो जनवादी बहस से सार्विक तौर पर पहचाने गये नियमों से निकलता हो।" (वही, P-31)

स्पष्टतः ही पिकेटी मार्क्सवाद विरोधी, कम्युनिस्ट विरोधी एक सामाजिक जनवादी हैं जिन्हें पूंजीवाद और असमानता से कोई दिक्कत नहीं है। बस वे इसमें सामाजिक न्याय चाहते हैं। उनकी यह किताब इसी को लक्ष्य बना कर चलती है।

अपने इस आत्म-कथन में पिकेटी आगे बताते हैं कि कैसे वे अमेरिका गये और वहां हाथों-हाथ लिए जाने के बावजूद वहां गणितीय मॉडल वाले अर्थशास्त्र से असंतुष्ट होकर वापस फ्रांस लौट आये। यहां लौटकर उन्होंने 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' को अपना लिया और इस तरह नव शास्त्रीय अर्थशास्त्री बन गये।

सभी नव शास्त्रीय अर्थशास्त्रियों की तरह पिकेटी भी सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त को मानते हैं और दावा करते हैं कि मार्क्स उत्पादकता को स्वीकार नहीं करते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे इस दावे में कोई सच्चाई नहीं है पर चूंकि मार्क्स 'सीमान्त उत्पादकता' के सिद्धान्त को नहीं मानते थे इसलिए पिकेटी के लिए वे उत्पादकता को भी नहीं मानते थे। यहां सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त की उपयोगिता के बारे में जोसफ स्टिग्लिज का ऊपर उद्धृत वक्तव्य याद करना फायदेमंद होगा।

नव शास्त्रीय अर्थशास्त्र के दो बुनियादी सूत्र हैं। पहला यह कि बाजार को अपनी गति पर छोड़ देने पर, यानी हर तरह की बाधाओं को हटा देने पर, अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति को हासिल कर लेगी। मांग हमेशा पूर्ति को संतुलित करेगी। दूसरा यह कि उत्पादन के हर कारक, चाहे वह पूंजी हो या श्रम, के हिस्से वही आता है जो उसकी सीमान्त उत्पादकता होती है। यानी यदि अन्य कारकों को स्थिर रखा जाये तो संबंधित कारक की एक इकाई में वृद्धि से उत्पादन में कितनी वृद्धि होगी।

उपरोक्त सिद्धान्त न तो मजदूरों की बेरोजगारी को स्वीकार करता है और न बिना निवेश की गई यानी निष्क्रिय पड़ी पूंजी के अस्तित्व को। ठीक इसी कारण यह अर्थव्यवस्था में किसी दूरगामी ठहराव को स्वीकार नहीं करता। ठहराव केवल तात्कालिक हो सकता है। तात्कालिक तौर पर मांग और पूर्ति के असंतुलन के कारण। यह सिद्धान्त आय में हर तरह की असमानता को सीमान्त उत्पादकता का परिणाम मानता है-ज्यादा तनख्वाह पाने वाले ज्यादा उत्पादक होते हैं।

पिकेटी इसी सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क में काम करते हैं। पर उनकी परेशानी यह है कि जैसे ही वह इसे आज की असमानता पर, खासकर बहुत ऊंची तनख्वाह पाने वाले 'सुपर मैनेजर्स' पर लागू करते हैं, खुद उनकी नजर में यह सिद्धान्त कारगर नहीं रह जाता। जहां वे बाकी मजदूरों-कर्मियों के लिए सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं वहीं वे 'सुपर मैनेजर्स' के लिए अन्य स्पष्टीकरण ढूंढ़ने लगते हैं। इन्हें वे उन मूल्यों में पाते हैं जिसे आज के समाज में स्वीकार कर लिया गया है और जिसके बल पर ये 'सुपर मैनेजर्स' खुद आपस में मिलकर अपने लिए आसमान छूती तनख्वाहें तय कर लेते हैं। ये मूल्य स्वयं सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त पर आधारित हैं पर वे अति को स्वीकार कर लेते हैं।

आज की असमानता के लिए 'सुपर मैनेजर्स' के अलावा वे वसीयत की आय को जिम्मेदार मानते हैं जो प्रथम विश्व युद्ध से पहले बहुत ज्यादा थी और अब एक बार फिर बहुत ज्यादा की ओर बढ़ रही है। इसे समझने के लिए वे कुल आय को पूंजी की आय और श्रम की आय में विभाजित करते हैं और बताते हैं कि पहला वाला अब फिर बढ़ रहा है। आज के सबसे धनी लोगों में से कुछ ऐसे हैं जो पूंजी और श्रम दोनों से भारी आय हासिल कर रहे हैं (जैसे कि बिल गेट्स सेवा निवृत्ति से पहले किया करते थे) या फिर केवल पूंजी से ही भारी आय हासिल कर रहे हैं जैसा कि बिल गेट्स आज हासिल कर रहे हैं। पिकेटी के अनुसार श्रम की आय में बढ़ती अति असमानता तो समस्या है ही ('सुपर मैनेजर्स' की समस्या) पूंजी या धन सम्पदा की आय की समस्या ज्यादा बड़ी है। उनके अनुसार दूरगामी तौर पर धन-सम्पदा और आय की अत्यधिक असमानता में यही प्रमुख कारक है।

इसके लिए वे अपना एक खास सिद्धान्त पेश करते हैं। उनके अनुसार पूंजीवाद में 1945 से 75 तक देखी गई वृद्धि दर अपवाद या संयोगवश है। इसी तरह किन्हीं देशों में कुछ दशकों की ऊंची वृद्धि दर भी केवल 'कैच अप' तक पहुंचने का ही मामला है। विकास के एक स्तर पर पहंचने पर यह वृद्धि दर बहुत कम रह जाती है। यह प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में सालाना एक प्रतिशत वृद्धि दर के आस-पास है। पूंजीवाद की यही दूरगामी प्रवृत्ति है। पिछले तीन-चार दशकों में सभी विकसित देशों में यही वृद्धि दर औसतन रही है।

पिकेटी के अनुसार पूंजीवाद की इस प्रवृत्ति से एक समस्या पैदा होती है। पूंजी पर प्रतिफल दर ऐतिहासिक तौर पर औसतन पांच प्रतिशत रही है। अब यदि प्रति व्यक्ति आय एक प्रतिशत के हिसाब से बढ़ रही है और पूंजी पर प्रतिफल दर पांच प्रतिशत है तो इसका मतलब यह है कि आय का ज्यादा बड़ा हिस्सा पूंजी के हिस्से में जा रहा है। इससे न केवल आय की असमानता बढ़ती है (पूंजी और श्रम के बीच आय के बंटवारे की असमानता के कारण) बल्कि इससे धन-सम्पदा की असमानता भी तेजी से बढ़ती है क्योंकि धन-सम्पदा के मालिक अपनी आय का एक हिस्सा ही खर्च करते हैं, बाकी का वे निवेश करते हैं। अपनी बारी में यह फिर आय और धन-सम्पदा की असमानता को और बढ़ाता है।

पिकेटी इसके लिए एक आम सूत्र पेश करते हैं। उनके अनुसार यदि पूंजी पर प्रतिफल दर r हो और वृद्धि दर g हो तो $r-g$ के बढ़ने पर आय और धन-सम्पदा की असमानता बढ़ेगी। कम से कम पूंजीवाद के इतिहास में ऐसा ही होता रहा है।

पिकेटी के अनुसार प्रथम विश्व युद्ध से लेकर 1970 के दशक तक का समय एक तरह से अपवाद या सांयोगिक ही था। अब पूंजीवाद अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति पर लौट आया है। ऐसे में यदि पूंजीवाद को अपनी गति पर छोड़ दिया गया तो उसमें आय और धन-सम्पदा की असमानता बढ़ेगी। इसीलिए इसे रोकने के लिए और एक जनतांत्रिक न्यायपूर्ण समाज बनाने के लिए कुछ करने की

आवश्यकता बनती है। इसके लिए पिकेटी अपने नुस्खे प्रस्तावित करते हैं जिनमें से पूंजी पर वैश्विक कर प्रमुख है हालांकि, जैसा कि पहले रेखांकित किया गया है, यह खुद उनकी नजर में आज कल्पनावादी है।

स्पष्ट है कि पिकेटी नवशास्त्रीय अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क में काम करते हुए भी अपनी सुविधानुसार उसे छोड़ देते हैं। बल्कि यह कहना ज्यादा उचित होगा कि ऐतिहासिक आंकड़ों की सच्चाईयां उन्हें ऐसा करने को मजबूर करती हैं। वे यह कहने के लिए मजबूर होते हैं कि पूंजीवाद की प्रकृति में या बाजार की गति में ऐसा कुछ नहीं है जो असमानता की बढ़ती भयानक प्रवृत्ति पर रोक लगा सके या उत्पादक पूंजीवाद को एक किरायाजीवी पूंजीवाद में तब्दील होने से रोक सके। (r-g के बढ़ने के फलस्वरूप धन-सम्पदा की असमानता में जो वृद्धि होगी वह धनिकों को किरायाजीवी होने की ओर ले जायेगी क्योंकि वे अपने श्रम की आय पर नहीं बल्कि धन-सम्पदा की आय पर जियेंगे जो उन्हें अधिकाधिक वसीयत में मिलेगी।)

पिकेटी कभी यह स्पष्ट नहीं करते कि पूंजी पर प्रतिफल दर एक निश्चित मात्रा की ओर क्यों प्रवृत्त होती है (ऐतिहासिक तौर पर औसतन पांच प्रतिशत सालाना) या वृद्धि दर क्यों एक निश्चित मात्रा तक पहुंचेगी (जैसे कि वे सोचते हैं -औसतन एक प्रतिशत सालाना)? (उनका ऐतिहासिक औसत यानी एक प्रतिशत वृद्धि दर जनसंख्या वृद्धि दर को घटा कर है) वे यह भी कभी स्पष्ट नहीं करते कि r-g के बढ़ने पर श्रम की आय में कैसे कमी होगी या पूंजी की आय में कैसे वृद्धि होगी? वे बस मानकर चलते हैं कि ऐसा होगा या ऐतिहासिक तौर पर ऐसा होता रहा है। यहां यह मानकर चला जाता है कि यदि g ज्यादा हो तो श्रम की आय में वृद्धि होगी और असमानता में कमी होगी। पर क्या यह वाकई होता रहा है? या क्या सैद्धान्तिक तौर पर ऐसा होना ही चाहिए? केवल द्वितीय विश्व युद्ध के तीन दशकों के आधार पर इसे नियम के तौर पेश कर देना कहीं से भी उचित नहीं लगता।

सभी नवशास्त्रीय अर्थशास्त्रियों की तरह पिकेटी भी वास्तविक पूंजीवाद के यथार्थ को संज्ञान में नहीं लेते। आज की बड़े पैमाने की बेरोजगारी (रिजर्व सेना) और खाली बैठी विशाल पूंजी का उनके लिए कोई अस्तित्व नहीं है। इसी तरह उत्पादन क्षमता का बहुत कम इस्तेमाल होना भी उनके संज्ञान में नहीं है। पूंजीवाद की वर्गीय संरचना, वर्ग-संघर्ष, पूंजीवादी राज्य इत्यादि उनके मॉडल में नहीं है और न ही साम्राज्यवाद। जहां तक साम्राज्यवाद की बात है वे न केवल उसे नजरअंदाज करते हैं बल्कि कहते हैं कि आज विकसित देशों की पूंजी का संतुलन लगभग बराबर है यानी विकसित देशों ने जितनी पूंजी बाहर लगा रखी है उतनी ही बाहर की पूंजी वहां लगी हुई है। यानी वे कोई साम्राज्यवादी शोषण नहीं करते। वे पिछड़े पूंजीवादी देशों में लगी हुई बड़े पैमाने की साम्राज्यवादी पूंजी और इन देशों से साम्राज्यवादी देशों में गई पूंजी (काले धन का स्थानांतरण और पेट्रो डालर इत्यादि) में कोई भेद नहीं करते जबकि इन दोनों से फायदा केवल साम्राज्यवादियों को ही होता है। इस सबको नजरअंदाज करने के बाद मामला स्वभावतः ही केवल r-g के तकनीकी सूत्र तक सीमित होकर रह जायेगा, हालांकि पिकेटी अपने सामाजिक न्याय के लिए इस तकनीकी सूत्र से पीछा छुड़ा कर स्वयं राजनीति की शरण में चले जाते हैं। हां, यह बस एक खास तरह की राजनीति है - एक नव शास्त्रीय अर्थशास्त्री की सामाजिक जनवादी राजनीति जो अर्थशास्त्रीय स्तर पर कीन्स से भी बहुत पीछे चली जाती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पिकेटी 2007 के फ्रांसीसी चुनाव में राष्ट्रपति पद के लिए खड़ी समाजवादी पार्टी की उम्मीदवार रायेल के आर्थिक सलाहकार थे। वे छुट्टे पूंजीवाद के जमाने के सामाजिक जनवादी हैं जो संरक्षणवाद के खिलाफ हैं, जो पूंजी के मुक्त आवागमन पर कोई लगाम नहीं लगाना चाहते। वे बस इस पर कर लगाना चाहते हैं। उनका नुस्खा 'टाबिन टैक्स' का नया रूप है।

IV
मसले पर कुछ मार्क्सवादी निष्पत्तियां

जैसा कि पहले कहा गया है, पिकेटी की पुस्तक का एक प्रमुख उद्देश्य मार्क्सवाद को झुठलाना है। स्वयं पिकेटी के शब्दों में :

> "मेरे निष्कर्ष मार्क्स के असीमित संचय और निरंतर प्रसरण से निकलने वाले निष्कर्षों से कम कयामतवादी हैं (क्योंकि मार्क्स का सिद्धान्त प्रकारान्तर से दूरगामी तौर पर शून्य उत्पादकता वृद्धि दर को दृढ़ता से मानकर चलता है)। मैं जिस मॉडल को प्रस्तावित करता हूं उसमें प्रसरण निरंतर नहीं है और वह धन-सम्पदा के वितरण की कई संभावित दिशाओं में से केवल एक है। ... . " (वही, P-27)

दो सौ पृष्ठ बाद यही बात फिर दोहराई गई है :

> "निष्कर्ष के तौर पर : आधुनिक वृद्धि ने, जो उत्पादकता की वृद्धि और ज्ञान के प्रसार पर आधारित है, मार्क्स द्वारा प्रस्तुत कयामत की भविष्यवाणी को टालना संभव बनाया है और यह संभव बनाया है कि पूंजी के संचय को संतुलित किया जाये। लेकिन इसने पूंजी की गहरी संरचना को परिवर्तित नहीं किया है-या कम से कम श्रम के मुकाबले पूंजी के महत्व को वृहद आर्थिक स्तर पर वास्तविक तौर पर कम नहीं किया है। ... ... " (वही, P-234)

वस्तुगतता का दावा करने वाले बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों की यह नियति है कि एक बात कहने के बाद अगले वाक्य में उसका खंडन कर देते हैं। 'पूंजी की गहरी संरचना' का क्या मतलब है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है? ठीक वही जो मार्क्स बताते हैं और जिसे पिकेटी जैसे बुर्जुआ अर्थशास्त्री झुठलाने का हर संभव प्रयास करते हैं।

इस संबंध में हम मार्क्स की कुछ बातों को उन्हीं के शब्दों में पेश करेंगे। राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन के अपने शुरुआती दौर में मार्क्स ने ये बातें कहीं थीं :

"घर चाहे छोटा हो या बड़ा, जब तक उसके आस-पास के घर भी उतने ही छोटे होते हैं, तब तक घर के लिए समस्त सामाजिक मांग उससे पूरी हो जाती है। लेकिन इस छोटे से घर की बगल में एक महल खड़ा हो जाने दीजिए, तब वह छोटा सा घर न रहकर झोपड़ा बन जायेगा। अब यह छोटा सा घर यह जाहिर करेगा कि उसके मालिक की मांग बहुत कम है, या नहीं के बराबर है। या फिर, सभ्यता के विकास के साथ-साथ, यह छोटा सा घर चाहे जितना उठ जाय, यदि वह पड़ोस का महल भी उतना ही, या उससे भी अधिक ऊपर उठता जाता है, तो इस अपेक्षाकृत छोटे घर में रहने वाला व्यक्ति उसकी चहारदिवारी के भीतर अपने को अधिकाधिक बेचैन, असंतुष्ट और जकड़ा हुआ महसूस करेगा।

"मजदूरी में किसी प्रकार की दृष्टव्य बढ़ती होने के पहले यह आवश्यक है कि उत्पादक पूंजी में तेजी से बढ़ती हो। उत्पादक पूंजी की तेजी से बढ़ती होने पर धन-दौलत, ऐश-आराम के सामान, सामाजिक आवश्यक्ताओं तथा सामाजिक आमोद-प्रमोद के साधनों की भी उसी गति से बढ़ती होती है। इस प्रकार, यद्यपि मजदूरों के उपभोग के साधनों में वृद्धि हो जाती है, लेकिन उनसे जो सामाजिक सन्तोष होता है वह-पूंजीपतियों के पहले से बढ़े हुए उपभोग की तुलना में, जो मजदूर की पहुंच के बाहर रहता है, और समाज के सामान्य विकास-स्तर की तुलना में, पहले से कम हो जाता है। हमारी अभिलाषाएं और हमारे आनन्द की कल्पनाएं समाज से उत्पन्न होती हैं, इसलिए हम उनकी माप समाज से करते हैं न कि उन साधनों से जिनके द्वारा उनकी पूर्ति होती है। चूंकि उनका स्वरूप सामाजिक है, इसीलिए सापेक्षिक भी है। आम तौर पर मजदूरी केवल मालों के उन परिमाणों द्वारा निश्चित नहीं होती, जिनसे हम मजदूरी का विनिमय कर सकते हैं। मजदूरी में अनेक प्रकार के संबंध निहित होते हैं।" (कार्ल मार्क्स, उजरती श्रम और पूंजी, संकलित रचनाएं, तीन खण्डों में, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978, खण्ड-1, भाग-1, पृष्ठ-201-202)

और भी आगे,

"यदि पूंजी तेजी से बढ़ रही है तो मजदूरी भी बढ़ सकती है, लेकिन पूंजी का मुनाफा इतनी तेजी से बढ़ता है कि दोनों की तुलना नहीं हो सकती। मजदूर की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाती है, मगर उसकी सामाजिक स्थिति और बिगड़ जाती है। उसे पूंजीपति से अलग करने वाली सामाजिक खाई और भी चौड़ी हो जाती है।" (वही, पृष्ठ-207)

यहां मार्क्स यह रेखांकित कर रहे हैं कि पूंजीवादी संचय का यह नियम है कि मजदूर की आर्थिक स्थिति भले कुछ सुधर जाये पर उसकी सामाजिक स्थिति और बिगड़ जाती है। यह अपने को आय और धन-सम्पदा की बढ़ती असमानता में अभिव्यक्त करेगी।

इन बातों पर अपने विस्तृत अध्ययन के बाद मार्क्स किन नतीजों पर पहुंचे? पूंजी के पहले खण्ड में मार्क्स लिखते हैं :

" सामाजिक धन, कार्यरत पूंजी, उसके विकास का विस्तार तथा तेजी और इसलिए सर्वहारा की निरपेक्ष संख्या तथा उसके श्रम की उत्पादिता जितनी बढ़ती जाती है, औद्योगिक रिजर्व सेना का भी उतना ही विस्तार होता जाता है। जिन कारणों से पूंजी के विस्तार की शक्ति बढ़ती है, उन्हीं कारणों से पूंजी के इस्तेमाल के लिए सदा तैयार रहने वाली श्रम शक्ति भी बढ़ती जाती है। इसलिए औद्योगिक रिजर्व सेना का सापेक्ष परिमाण धन की संभावी क्रिया शक्ति के साथ-साथ बढ़ता जाता है। परन्तु सक्रिय श्रमिक सेना के अनुपात में यह रिजर्व सेना जितनी बड़ी होती है, उतनी ही विशाल समेकित बेशी आबादी तैयार हो जाती है, जिसकी गरीबी सक्रिय श्रमिक सेना की मेहनत की यातना के सीधे अनुपात में होती है। और अंत में मजदूर वर्ग का यह कंगाल स्तर और रिजर्व सेना जितने बड़े होते हैं, सरकारी कागजों में उतने ही मुहताज दर्ज किये जाते हैं। **यह पूंजीवादी संचय का निरपेक्ष सामान्य नियम है।** अन्य सभी नियमों की तरह यह नियम भी जब व्यवहार में आता है, तब उसमें ऐसी बहुत सी बातों के फलस्वरूप कुछ संशोधन हो जाता है जिनका यहां विश्लेषण करने की जरूरत नहीं है।

... ...

"भाग 4 में सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन का विश्लेषण करते हुए हमने देखा था कि पूंजीवादी समाज के भीतर श्रम की सामाजिक उत्पादिता को बढ़ाने के सारे तरीके मजदूर का गला काट कर अमल में आते हैं; उत्पादन का विकास करने के सारे साधन उत्पादकों पर अधिपत्य जमाने तथा उनका शोषण करने के साधनों में बदल जाते हैं, वे मजदूर का अंग-भंग करके उसको मनुष्य का एक अपखण्ड बना देते हैं, उसे किसी मशीन का उपांग मात्र बना देते हैं, मजदूर के लिए उसके काम का सारा आकर्षण खत्म कर देते हैं तथा उसे एक घृणित श्रम में परिणत कर देते हैं; जिस हद तक श्रम-प्रक्रिया में विज्ञान का एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में समावेश होता जाता है, उसी हद तक उत्पादन के विकास के ये साधन मजदूर को श्रम प्रक्रिया की बौद्धिक क्षमताओं से दूर करते जाते हैं; मजदूर जिन परिस्थितियों में काम करता है, वे उनको विकृत कर देते हैं; वे श्रम-प्रक्रिया के दौरान मजदूर को एक ऐसी निरंकुशता के अधीन बना देते हैं, जो अपनी तुच्छता के कारण और भी घृणित होती है, वे उसके पूरे जीवनकाल को श्रम-काल में बदल देते हैं और उसकी पत्नी और बच्चों को भी पूंजी के रथ के नीचे कुचले जाने के लिए ला पटकते हैं। लेकिन बेशी मूल्य के उत्पादन के सारे ही तरीके साथ ही संचय के भी तरीके होते हैं, और संचय का जब कभी विस्तार होता है, तो वह इन तरीकों को और विकसित करने का साधन बन जाता है। अत: इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस अनुपात में पूंजी का संचय होता जाता है,

उसी अनुपात में मजदूर की हालत बिगड़ती जाती है- उसको चाहे ज्यादा मजदूरी मिलती हो, चाहे कम। अंत में वह नियम, जो सापेक्ष बेशी आबादी या औद्योगिक रिजर्व सेना का संचय के विस्तार और तेजी के साथ सदा संतुलन स्थापित किया करता है, मजदूर को पूंजी के साथ इतनी मजबूती के साथ जकड़ देता है जितनी मजबूती के साथ वल्कन की बनाई हुई कीलें भी प्रोमिथियस को चट्टान के साथ नहीं जकड़ सकी थीं। पूंजी के संचय के साथ-साथ इस नियम के फलस्वरूप गरीबी का भी संचय होता जाता है। इसलिए यदि एक छोर पर धन का संचय होता है, तो उसके साथ-साथ दूसरे छोर पर-यानी उस वर्ग के छोर पर, जो खुद अपने श्रम की पैदावार को पूंजी के रूप में पैदा करता है-गरीबी, यातनापूर्ण परिश्रम, दासता, अज्ञान, पाशविकता और मानसिक पतन का संचय होता जाता है।" (कार्ल मार्क्स, पूंजी-खण्ड-1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1987, पृष्ठ-676-678, जोर मूल में)

यह सब है 'पूंजी की गहरी संरचना' का परिणाम। यहां पूंजीवादी संचय के जिस निरपेक्ष आम नियम की बात की गई है उसे ही सारे बुर्जुआ अर्थशास्त्री पिछले डेढ़ सौ सालों से झुठलाने का प्रयास करते आ रहे हैं। पिकेटी भी इनमें से एक हैं। मार्क्स यहां इस नियम के जिन संशोधनों की बात करते हैं उनकी चर्चा आगे एक हिस्से में की जायेगी।

मार्क्स पूंजी के दूसरे खण्ड में पूंजी के परिचलन का विश्लेषण करते हुए विस्तारित पैमाने के पुनरुत्पादन की गहराई से छान-बीन करते हैं। इस बात को रेखांकित करने के बाद कि साधारण पैमाने का पुनरुत्पादन भी पूंजीवादी संबंधों को पुनरुत्पादित करता है, वे विस्तारित पैमाने के पुनरुत्पादन पर आते हैं और बताते हैं कि भले ही नये सृजित मूल्य (बेशी मूल्य+मजदूरी) में परिवर्ती पूंजी यानी मजदूरी का हिस्सा आनुपातिक तौर पर वही रहे, पूंजीपति वर्ग की कुल पूंजी साल दर साल बढ़ती चली जाती है। इस तरह आय का पूंजी और श्रम के बीच वही आनुपातिक बंटवारा होने के बावजूद पूंजी की मात्रा (पिकेटी की भाषा में धन-सम्पदा) बढ़ती जाती है। यानी आय की असमानता में परिवर्तन न होने के बावजूद धन-सम्पदा की असमानता में परिवर्तन होना अनिवार्य है। यह पूंजीवादी संचय का अनिवार्य परिणाम है। यदि यह न हो तो पूंजीवादी उत्पादन ही नहीं होगा। पूंजीवादी उत्पादन का उद्देश्य संचय होता है न कि उपभोग। यदि उपभोग पूंजीवादी उत्पादन का उद्देश्य होता तो यह उत्पादन साधारण पैमाने का पुनरुत्पादन होता। तब पूंजीपति को जो भी मुनाफा होता वह सारा उपभोग कर डालता और सारी उत्पादन-वितरण प्रक्रिया के अंत में पूंजीपति के पास केवल उतनी ही पूंजी रह जाती जितनी पहले थी। पर संचय पूंजीवादी उत्पादन का मर्म है। और संचय होने का मतलब है पूंजीपति वर्ग की पूंजी में वृद्धि और ठीक इसी कारण मजदूर वर्ग की गुलामी में वृद्धि। पूंजी एक सामाजिक संबंध है जो माल उत्पादन प्रक्रिया के जरिये मजदूर का शोषण संभव बनाता है। इसीलिए पूंजी में वृद्धि का मतलब इस शोषण में वृद्धि है, मजदूर वर्ग की गुलामी में वृद्धि है। यह तब भी होता है जब मजदूर वर्ग के शोषण की तीव्रता वही रहे और पूंजी का संघटन भी।

लेकिन पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ मजदूर वर्ग के शोषण की तीव्रता में भी वृद्धि होती जाती है और पूंजी के संघटन में भी। इसका परिणाम यह निकलता है कि जहां पूंजी और तेजी से बढ़ती है (मजदूरी या परिवर्ती पूंजी के मुकाबले) वहीं कुल आय में पूंजी के मुकाबले श्रम का हिस्सा भी घटता जाता है। यानी आय की असमानता भी बढ़ती जाती है। यह कुल मिलाकर उस परिघटना को जन्म देता है जिसे मुनाफे की गिरती दर के नाम से जाना जाता है।

'पूंजी' के तीसरे खण्ड में बेशी मूल्य की दर को समान मानते हुए (यानी स्थिर मानते हुए) पूंजी के संघटन के बदलने के पांच उदाहरण और इसके द्वारा लाभ दर पर पड़ने वाले परिणाम को दिखाने के बाद मार्क्स यह लिखते हैं :

"बेशी मूल्य की उतनी ही दर श्रम के शोषण की उतनी ही मात्रा के अंतर्गत ह्रासमान लाभ दर में अपने को इस प्रकार व्यक्त करेगी, क्योंकि स्थिर पूंजी की भौतिक वृद्धि में उसके मूल्य में, यद्यपि उतने ही अनुपात में नहीं-और फलतः कुल पूंजी के मूल्य में वृद्धि भी सन्निहित होती है।

"इसके अलावा अगर यह माना जाये कि पूंजी की संरचना में यह क्रमिक परिवर्तन केवल पृथक उत्पादन क्षेत्रों तक सीमित नहीं है बल्कि न्यूनाधिक सभी, या कम से कम मुख्य उत्पादन क्षेत्रों में होता है, जिससे कि इसमें किसी समाज की कुल पूंजी की औसत आंगिक संरचना में परिवर्तन सम्मिलित होते हैं, तो जब तक बेशी मूल्य दर, अथवा पूंजी द्वारा श्रम के शोषण की तीव्रता उतनी ही बनी रहती है, परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की क्रमिक वृद्धि के फलस्वरूप अनिवार्यतः **सामान्य लाभ दर का क्रमिक ह्रास** होगा। अब हमने यह देख लिया है कि यह पूंजीवादी उत्पादन का एक नियम ही है कि उसके विकास के साथ-साथ स्थिर पूंजी की, और फलतः गतिशील की गई कुल पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी का आपेक्षिक ह्रास होता है। यह महज इसी बात को कहने का दूसरा ढंग है कि पूंजीवादी व्यवस्था में विकसित होने वाली विशिष्ट उत्पादन पद्धतियों के कारण मजदूरों की उतनी ही संख्या, अर्थात एक नियत मूल्य की परिवर्ती पूंजी द्वारा गतिशील श्रम शक्ति की उतनी ही मात्रा, उतनी ही समयावधि में श्रम साधनों, मशीनरी तथा भांति-भांति की स्थायी पूंजी, कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री की निरंतर बढ़ती मात्रा-और फलतः निरंतर बढ़ते मूल्य की स्थिर पूंजी-को चालित करती, संसाधित करती और उत्पादक ढंग से उपभोग में लाती है। स्थिर और फलतः कुल पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी का यह सतत् आपेक्षिक ह्रास सामाजिक पूंजी की उत्तरोत्तर उच्च औसत संरचना के समरूप होता है। इसी प्रकार यह श्रम की सामाजिक उत्पादिता के प्रभावी विकास को व्यक्त करने का ही एक और ढंग है, जो ठीक इसी बात से प्रदर्शित होता है कि मशीनरी और सामान्यतः स्थायी पूंजी के बढ़ते प्रयोग की बदौलत मजदूरों की उतनी ही संख्या उतने ही समय में, अर्थात, कम श्रम से, कच्ची और सहायक सामग्री की निरंतर बढ़ती मात्रा को उत्पादों में परिणत कर देती है। स्थिर पूंजी के मूल्य की इस बढ़ती मात्रा-चाहे वह केवल उन उपयोग मूल्यों की वास्तविक संहति को ही स्थूल रूप में दर्शाती है, जिनसे स्थिर पूंजी भौतिक रूप में बनी होती है-

के अनुरूप उत्पाद उत्तरोत्तर सस्ते होते जाते हैं। प्रत्येक पृथक उत्पाद में, स्वयं अपने में लेने पर उसकी अपेक्षा कम श्रम समाविष्ट होता है, जितना उसमें उत्पादन के निम्नतर स्तर पर समाविष्ट था, जब मजदूरी में निवेशित पूंजी उत्पादन साधनों में निवेशित पूंजी की तुलना में कहीं अधिक होती है। इसलिए इस अध्याय के आरंभ में निरूपित परिकल्पनात्मक शृंखला पूंजीवादी उत्पादन की वास्तविक प्रवृत्ति को व्यक्त करती है। यह उत्पादन पद्धति स्थिर पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी का प्रगामी आपेक्षिक ह्रास, और फलतः कुल पूंजी की आंगिक संरचना का निरंतर वर्धन उत्पन्न करती है। इसका सीधा परिणाम यह है कि श्रम के शोषण की उतनी ही, अथवा वर्धमान मात्रा तक पर बेशी मूल्य दर निरंतर ह्रासमान सामान्य लाभ दर द्वारा व्यक्त होती है। (हम आगे चलकर देखेंगे कि यह ह्रास अपने को क्यों निरपेक्ष नहीं, बल्कि प्रगामी ह्रास की प्रवृत्ति की तरह अभिव्यक्त करता है) इसलिए सामान्य लाभ दर गिरने की प्रगामी प्रवृत्ति मात्र श्रम की सामाजिक उत्पादिता के प्रगामी विकास की **पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के लिए विशिष्ट अभिव्यक्ति** ही है। इसका मतलब यह कहना नहीं है कि लाभ दर अस्थाई रूप से अन्य कारणों से नहीं गिर सकती। किंतु पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की प्रकृति से ही उत्पन्न होने के कारण यह एक तर्क संगत आवश्यकता बन जाती है कि अपने विकास में सामान्य औसत बेशी मूल्य दर अपने आपको ह्रासमान सामान्य लाभ दर में व्यक्त करे। चूंकि नियोजित सजीव श्रम संहति अपने द्वारा गतिशील की गई मूर्त श्रम संहति की, अर्थात उत्पादक ढंग से उपभुक्त उत्पादन साधनों की तुलना में निरंतर घटती जाती है, अतः निष्कर्ष यह है कि इस सजीव श्रम का अशोधित और बेशी मूल्य में घनीभूत अंश भी निवेशित कुल पूंजी द्वारा व्यक्त की जाने वाली मूल्य राशि की तुलना में निरंतर घटता रहेगा। चूंकि निवेशित कुल पूंजी के मूल्य के साथ बेशी मूल्य संहति का अनुपात ही लाभ दर होता है, इसलिए यह लाभ दर भी निरंतर गिरती जायेगी।" (वही, खण्ड-3, पृष्ठ-188-90, जोर मूल में)

मार्क्स गिरते लाभ दर की प्रवृत्ति के विरोध में काम करने वाले प्रतिकारी प्रभावों की चर्चा आगे करते हैं ये कुल छः हैं : (1) शोषण की बढ़ती तीव्रता; (2) मजदूरी का श्रम शक्ति के मूल्य के नीचे गिरना; (3) स्थिर पूंजी के तत्वों का सस्ता होना; (4) आपेक्षिक जनाधिक्य; (5) विदेश व्यापार और (6) स्टॉक पूंजी का बढ़ना। ये सभी प्रतिकारी प्रभाव कुल मिलाकर इस तरह काम करते हैं कि गिरती लाभ दर एक निरपेक्ष परिघटना होने के बदले केवल प्रवृत्ति बनी रहती है।

मार्क्स गिरते लाभ दर की व्याख्या करने के लिए जो उत्पादन शृंखला प्रस्तुत करते हैं उसमें परिवर्ती पूंजी वही यानी 100 बनी रहती है साथ ही बेशी मूल्य की दर भी (जो एक सौ प्रतिशत मानी गई है)। यानी मजदूरी 100 और मुनाफा भी 100 लेकिन स्थिर पूंजी बदलती रहती है-क्रमशः 50, 100, 200, 300 और 400 । यानी कुल पूंजी क्रमशः 150, 200, 300, 400 और 500 । इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि आय के पूंजी और श्रम के बीच बंटवारे के एक रहते हुए भी (क्योंकि हर बार मजदूरी और मुनाफा दोनों 100-100 ही हैं) पूंजी की मात्रा आंगिक संरचना के विकास के साथ बढ़ती जाती है। वह 150 से 500 हो जाती है। यानी पूंजीवाद के सामान्य विकास में यह अंतर्निहित है कि पूंजी और श्रम के बीच आय का बंटवारा वही रहते हुए भी पूंजी की कुल मात्रा बढ़ती चली जाये। यहां यह गौरतलब है कि पूंजी की मात्रा में यह वृद्धि कुल आय के वही रहते हुए होती है यानी आय के मुकाबले पूंजी बढ़ती जाती है, पूंजी और आय का अनुपात बढ़ता जाता है। साथ ही यह भी कि कुल मजदूरी के मुकाबले पूंजी की मात्रा लगातार बढ़ती जाती है। यह उस स्थिति से भिन्न है जब पूंजी बढ़ती तो है पर कुल मजदूरी के अनुपात में ही (जब पूंजी की आंगिक संरचना वही बनी रहती है।)।

इस तरह पूंजीवाद की उन परिघटनाओं का कारण स्पष्ट हो जाता है जिन्हें पिकेटी अपने ऐतिहासिक अवलोकन से चिह्नित तो करते हैं पर जिनके कारण नहीं खोज पाते और अजीबोगरीब सूत्रीकरणों (r-g) में लग जाते हैं जिससे कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। 'पूंजी की गहरी आंतरिक संरचना' कैसे इन परिघटनाओं को जन्म देती है, यह बखूबी स्पष्ट हो जाता है।

उपरोक्त में यह माना गया है कि बेशी मूल्य की दर वही बनी रहती है यानी आय का पूंजी और श्रम के बीच बंटवारा वही बना रहता है। पर पूंजीवाद के विकास के साथ, जिसमें आंगिक संरचना में विकास भी निहित है जिससे जीवन उपभोग के साधन सस्ते हो जाते हैं (प्रति इकाई मूल्य कम हो जाने के कारण), बेशी मूल्य की दर बढ़ती जाती है यानी नये सृजित मूल्य में पूंजी का हिस्सा बढ़ जाता है और श्रम का हिस्सा कम हो जाता है। इससे आय की असमानता में वृद्धि हो जाती है। इस तरह एक दूसरे कोण से देखें तो आय की असमानता में वृद्धि कुल आय या श्रम की आय के मुकाबले पूंजी की मात्रा में वृद्धि से जुड़ी हुई है यानी आय की असमानता में भी वृद्धि होती जाती है और धन-सम्पदा की असमानता में भी। जैसा कि मार्क्स ने रेखांकित किया है बेशी मूल्य की बढ़ती दर लाभ की गिरती दर को रोकने का काम करती है यानी लाभ की दर गिरने की प्रवृत्ति पर प्रतिकारी प्रभाव डालती है।

जहां तक कुल वृद्धि दर के घटने-बढ़ने का मामला है मार्क्स लाभ की दर के गिरने की प्रवृत्ति के अंतर्विरोध की चर्चा करते हुए यह कहते हैं :

> "बहुत ही सामान्य ढंग से कहा जाये, तो असंगति इसमें है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति अपने में सन्निहित मूल्य तथा बेशी मूल्य के बावजूद और पूंजीवादी उत्पादन जिन सामाजिक अवस्थाओं के अंतर्गत होता है, उनके बावजूद निरपेक्ष विकास की प्रवृत्ति रखती है; जबकि दूसरी ओर, उसका लक्ष्य विद्यमान पूंजी के मूल्य को बनाये रखना और उसके स्वप्रसार का अधिकतम सीमा तक संवर्धन करना (अर्थात इस मूल्य की अधिकाधिक तीव्र संवृद्धि का संवर्धन करना है)। इसका विशिष्ट लक्षण यह है कि वह पूंजी के विद्यमान मूल्य का इस मूल्य को अधिकतम सीमा तक बढ़ाने के साधन की तरह उपयोग करती है। जिन तरीकों से वह इसकी सिद्धि

करती है, उनमें लाभ दर का गिरना विद्यमान पूंजी का मूल्य ह्रास और पहले ही सृजित उत्पादक शक्तियों के मोल पर श्रम की उत्पादक शक्तियों का विकास सम्मिलित है।

"विद्यमान पूंजी का आवधिक मूल्य ह्रास-जो लाभ दर के ह्रास को रोकने और नयी पूंजी के निर्माण के जरिये पूंजी मूल्य के संचयन को त्वरित करने के लिए पूंजीवादी उत्पादन में अंतर्भूत साधनों में एक है-उन नियत अवस्थाओं को विक्षुब्ध कर देता है, जिनके अंतर्गत पूंजी के परिचलन तथा पुनरुत्पादन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है और इसीलिए उसके साथ उत्पादन प्रक्रिया में आकस्मिक विरामों और संकटों का सलिसिला चलता रहता है।

"स्थिर पूंजी की सापेक्षता में परिवर्ती पूंजी का घटना, जो उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ चलता है, निरंतर कृत्रिम जनाधिक्य उत्पन्न करते हुए श्रमिक आबादी की संवृद्धि को प्रोत्साहित करता है। ह्रासमान लाभ दर से मूल्य के अर्थों में पूंजी का संचयन मंदित हो जाता है, जिससे उपयोग मूल्यों का संचयन और भी त्वरित हो जाता है, जबकि अपने बारी में यह मूल्य के अर्थों में संचयन को नया संवेग प्रदान करता है।

"पूंजीवादी उत्पादन इन अंतर्भूत बाधाओं पर पार पाने का निरंतर प्रयास करता है, पर उन पर पार केवल ऐसे साधनों से पाता है कि जो इन बाधाओं को उसके रास्ते में फिर तथा और भी अधिक विकट पैमाने पर खड़ा कर देते हैं।

"पूंजीवादी उत्पादन की **वास्तविक बाधा स्वयं पूंजी** है। इसका मतलब यह है कि पूंजी तथा उसका स्वप्रसार प्रारंभ बिन्दु और अंतिम बिन्दु उत्पादन का उद्देश्य और प्रयोजन बन जाते हैं, उत्पादन केवल **पूंजी** के लिए उत्पादन होता है, न कि इसके विपरीत, और उत्पादन साधन केवल उत्पादकों के **समाज** की जीवन प्रक्रिया के सतत विकास के ही साधन नहीं होते। उत्पादकों के भारी बहुलांश के स्वत्वहरण और दरिद्रीकरण के आधार पर जिन सीमाओं के भीतर पूंजी के मूल्य का परिरक्षण तथा स्वप्रसार हो सकता है, वे सीमाएं उन उत्पादन विधियों के निरंतर टकराव में आती हैं, जिन्हें पूंजी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयोग करती है और जो उत्पादन के असीमित प्रसार की तरफ, स्वयं एक साध्य के नाते उत्पादन की तरफ, श्रम की सामाजिक उत्पादिता के अप्रतिबंध विकास-सीमित साध्य- विद्यमान पूंजी का स्वप्रसार के साथ निरंतर टकराता है। इसी कारण पूंजीवादी उत्पादन पद्धति उत्पादन की भौतिक शक्तियों को विकसित करने और उपयुक्त विश्व मंडी का निर्माण करने का एक ऐतिहासिक साधन है और, साथ ही, उसके इस ऐतिहासिक कार्यभार और सामजिक उत्पादन के उसके अपने अनुरूप संबंधों के बीच सतत संघर्ष भी है।" (वही, पृष्ठ-221-22, जोर मूल में)

पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के बारे में ये ठीक वहीं निष्कर्ष हैं जिनसे बुर्जुआ अर्थशास्त्री हर कीमत पर बचना चाहते हैं। मार्क्स के अनुसार आकस्मिक विराम और संकट पूंजीवाद में अंतर्भूत हैं पर बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मांग और पूर्ति एक दूसरे को संतुलित कर लेते हैं और सब कुछ समरस ढंग से चलता रहता है। बुर्जुआ अर्थशास्त्र के अनुसार न तो कभी अतिरिक्त आबादी होती है और न कभी अतिरिक्त पूंजी जबकि मार्क्स के अनुसार यह लाभ दर की गिरती प्रवृत्ति के नियम की आंतरिक असंगतियों में से एक है। जैसा कि हम आगे देखेंगे अतिरिक्त आबादी और अतिरिक्त पूंजी आज के पूंजीवाद की स्थाई विशेषता बन गई है और इन अर्थों में पूंजीवाद एक ठहराव की ओर गया है। इसने बड़े पैमाने की वित्तीय सट्टेबाजी को जन्म दिया है।

V

एक पुरानी बहस

थॉमस पिकेटी द्वारा प्रस्तुत आंकड़े दिखाते हैं कि उन्नीसवीं सदी में आय और धन-सम्पदा की असमानता लगातार बढ़ती रही और वह उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी की शुरुआत में सर्वोच्च स्तर पर जा पहुंची। इसमें कोई भी कमी प्रथम विश्व युद्ध के समय से या उसके बाद ही हुई।

इन आंकड़ों की रोशनी में आज वह बहस दिलचस्प लगती है जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के संधि बिंदु पर मजदूर आंदोलन के भीतर बर्नस्टीन और उनके समर्थकों ने शुरू की थी। इनका कहना था कि पूंजीवाद के बाद के विकास ने मार्क्सवाद की कुछ मूलभूत प्रस्थापनाओं को गलत ठहरा दिया है, इसलिए इनमें संशोधन की जरूरत है। अपने द्वारा प्रस्तावित बदनाम संशोधनों की वजह से वे बाद में संशोधनवादी के नाम से बदनाम हुए और संशोधनवाद और संशोधनवादी जैसे शब्द मार्क्सवादी शब्दावली में दाखिल हुए, अपने साथ जुड़ी हुई कुख्याति लिए हुए।

बर्नस्टीन और उनके समर्थकों ने क्या कहा? उन्होंने कहा कि मार्क्स के निष्कर्षों के विपरीत पूंजीवाद में मजदूर वर्ग की हालत बदतर नहीं हो रही है, पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग के बीच खाई नहीं बढ़ रही है, पूंजीवाद विध्वंसक अंतर्विरोध की ओर नहीं बढ़ रहा है। उन्होंने कहा कि धन-सम्पदा का वैसा संकेन्द्रण नहीं हो रहा है जैसा मार्क्स ने कहा था और इसके उलटे धन-सम्पदा का बिखराव हो रहा है। चूंकि पूंजीवाद विध्वंसक या विस्फोटक स्थिति की ओर नहीं बढ़ रहा है और मजदूर वर्ग की हालत दिनों-दिन बेहतर हो रही है, इसलिए मजदूर आंदोलन के लिए यही उचित रास्ता होगा कि वह पूंजीवाद में सुधारों को अपना लक्ष्य बनाए और एक उलट-पुलट कर देने वाली

काल्पनिक क्रांति के सपने के पीछे भागने के बदले सुधारों के जरिये समाजवाद तक पहुंचे। बर्नस्टीन ने अपने इस समाजवाद को विकासमान समाजवाद (evolutionary socialism) का नाम दिया और नारा दिया कि रास्ता ही सब कुछ है, अंतिम लक्ष्य कुछ भी नहीं।

बर्नस्टीन और उनके समर्थकों की इन संशोधनवादी बातों का तब रोजा लक्जमबर्ग, काउत्स्की और प्लेखानोव इत्यादि ने करारा जवाब दिया। पर यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि बर्नस्टीन एण्ड कम्पनी की ये बातें नयी नहीं थीं। जैसा कि लेनिन ने कहा, ये बातें बुर्जुआ दायरे में एक लम्बे समय से कही और प्रचारित की जा रही थीं और उन्हें बस बुर्जुआ साहित्य से सशरीर उठाकर मजदूर आंदोलन में डाल दिया गया था।

जिस समय बर्नस्टीन एण्ड कंपनी ने मार्क्सवाद पर अपना हमला बोला लगभग उसी समय रूस के कानूनी मार्क्सवादी स्त्रूवे ने भी यह कहना शुरू कर दिया और झटके से संविधानवादी जनवादियों में रूपान्तरित हो गये। स्त्रूवे ने 1899 में अपनी रचना 'सामाजिक विकास का मार्क्स का सिद्धान्त' प्रकाशित की थी। प्लेखानोव ने इसका 'हमारे आलोचकों की एक आलोचना' के नाम से जवाब दिया। इस जवाब में प्लेखानोव ने अन्य बातों के अलावा उस इतिहास का भी एक संक्षिप्त हवाला दिया जो पूंजीवाद में असमानता की कमी के प्रचारकों का रहा था। प्लेखानोव ने बताया कि इसकी शुरुआत 1838 में सं.रा. अमेरिका में हेनरी चार्ल्स कैरे ने की थी और वह बास्तियात से होते हुए उन्नीसवीं सदी के अंत के मार्क्स के आलोचकों तक पहुंचा था।

प्लेखानोव लिखते है :

> "यह ऐसा सवाल है जिससे भौंड़ा राजनीतिक अर्थशास्त्र एक लम्बे समय से जूझ रहा है : यह बहुत सारे 'विद्वानों' को सामने ले आया है जो यह साबित करने का हर संभव प्रयास करते रहे हैं कि श्रम शक्ति की बिक्री की शर्तें अधिकाधिक सर्वहारा के पक्ष में होती जा रही हैं, जो राष्ट्रीय आय का पहले से ज्यादा हिस्सा पा रहा है। जाने-माने अमेरिकी अर्थशास्त्री हेनरी चार्ल्स कैरे ने 1838 के सुदूर अतीत में स्पष्टता से इसे सूत्रित किया था। इसे कुख्यात बास्तियात ने अपना लिया जिनके तर्कों का हम थोड़ा बारीकी से अध्ययन करेंगे।
>
> "अपने 'समरसतावादी अर्थशास्त्र' में बास्तियात हमें यह आश्वस्त करते हैं कि नियति ने अपने न्याय और अच्छाई के साथ श्रम के लिए पूंजी से बेहतर भाग तैयार किया है। यह सुखद सोच इस 'न डिगने वाली स्वयं सिद्धि' पर आधारित है:
>
> "'पूंजी की वृद्धि के अनुपात में कुल उत्पाद का पूंजीपति को मिलने वाला **निरपेक्ष** हिस्सा तो बढ़ता है पर उसका **सापेक्षिक** हिस्सा घट जाता है; जबकि इसके विपरीत श्रमिक का हिस्सा निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों तौर पर बढ़ जाता है।'" (GV Plekhanov, A critique of Our critiques, Collected Philosophical Works, Progress Publishers, Moscow, Vol-2, Marxist Internet Archive, जोर मूल में)

एडवर्ड एटकिंसन उन्नीसवीं सदी के अंतिम हिस्से में अमेरिका के मशहूर सांख्यिकीविद थे। प्लेखानोव बताते हैं कि इस सांख्यिकीविद ने हालांकि यह साफ-साफ कहा कि आम तौर पर मजदूरी के सिद्धान्त के लिए उनके पास समय नहीं है पर उन्हें लगा कि बास्तियात पहले ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने मजदूरों और नियोक्ताओं के हितों के बीच संबंधों के बारे में सही सिद्धान्त प्रस्तावित किया है। एटकिंसन के अनुसार :

> "'बहुत साल पहले बास्तियात के 'समरसतावादी अर्थशास्त्र' का एक कथन मेरे दिमाग में चस्पा हो गया और इसकी सहायता से अपने व्यावसायिक जीवन में मैं मजदूरी की परिघटना को ज्यादा स्पष्ट अंतर्दृष्टि से देखने में कामयाब हुआ हूं। वह इस प्रकार है : 'पूंजी की वृद्धि के अनुपात में कुल उत्पाद का पूंजीपति को मिलने वाला **निरपेक्ष** हिस्सा बढ़ता जाता है पर उसका **सापेक्षिक** हिस्सा घटता जाता है; जबकि इसके विपरीत श्रमिक का हिस्सा निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों तौर पर बढ़ जाता है।'" (वही)

इसके बाद प्लेखानोव बताते हैं कि जर्मन अर्थशास्त्री शुल्ज गवर्निज ने ब्रिटेन के सूत उद्योग का अध्ययन करने के बाद यह बात कही :

> "जिस सामाजिक प्रक्रिया का हमने वर्णन किया है वह सम्पत्ति के मामले में विपरीतों को समानता की ओर ले जाती है-बिना धनिकों को और धनी और गरीबों को और गरीब बनाए, जैसा कि ब्रिटेन के मामले में सांख्यिकी से साबित हुआ है, यह इसके विपरीत की ओर ले जाती है। " (वही)

प्लेखानोव अपने लेख में एक बैठक का हवाला भी देते हैं जिसमें ब्रिटेन के वित्त मंत्री ने कुछ बातें कीं और बैंक आव इंग्लैण्ड के गवर्नर ने उनसे पूरी सहमति जाहिर की। गवर्नर कोलेट ने यह कहा :

> "धन सम्पदा के वितरण के स्वप्नदर्शी सिद्धान्तों और उत्तेजित मांगों के इन दिनों में इससे मूल्यवान कुछ भी नहीं था कि एकदम स्पष्ट और विवादहीन ढंग से यह दिखा दिया जाये कि धन सम्पदा के जिस वितरण की इतनी जोर से मांग की जा रही है, वह पहले से ही यथार्थ में हो रहा है, हालांकि चुपचाप, आर्थिक नियमों की गतियों से।" (वही)

और स्वयं ब्रिटेन के वित्त मंत्री गोशेन ने क्या बात कही थी? वह इस प्रकार थी :

> "मुझे नहीं पता कि जिन आंकड़ों को मैंने यहां प्रस्तुत किया है उन्होंने आपके मन पर भी उतना ही प्रभाव डाला जितना उन्होंने मेरे मन पर डाला था। मुझे यह लगता है कि हालांकि कुछ लोग समाज के एक बनावटी पुनर्गठन की मांग कर रहे हैं, एक तरह का गुपचुप समाजवाद वास्तव में प्रगति पर है। धन-सम्पदा के एक बड़े हिस्से में वितरण की गुपचुप गति जारी है जिसे चाहे जिधर से भी देखा जाये, मुझे लगता है कि यह राष्ट्रीय बधाई का मामला है। इसे हासिल करने के लिए किसी हिंसक साधन का

सहारा नहीं लिया गया है। लगातार कार्यरत आर्थिक नियम, जो स्वतंत्र व्यावसायिक व औद्योगिक व्यवस्था के तहत काम कर रहे हैं; उस परिणाम को हासिल कर रहा है जिसका मैने वर्णन किया है। ... ... और इस स्वतः समाजवाद का सबसे अच्छा पहलू यह है कि यह मंदी के समय भी काम करता है। मुनाफे के न होने और आम तौर पर ही बुरे समय की शिकायत के बावजूद, काम न होने और जो रोजगारशुदा हैं उनके रोजगार की भी अनियमितता के बावजूद, समाज के बीच का हिस्सा अपनी स्थिति मजबूत कर रहा है।" (वही)

प्लेखानोव द्वारा प्रस्तुत इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि पूंजीवाद में असमानता के कम होने का किस्सा लम्बे समय से चला आ रहा है और पूंजीवाद के सारे समर्थक इसे जोर-शोर से प्रचारित करते रहे हैं। इस प्रचार का न तो यथार्थ से लेना-देना है और न ही आर्थिक नियमों से। इनका लेना-देना शुद्धतः राजनीति से है। और कई सारे प्रचारक तो अपने उद्देश्य को छिपाते भी नहीं हैं।

थॉमस पिकेटी ने भी अपनी किताब में कुजनेट्स और सोलो जैसे लोगों का हवाला दिया है जो बिना किसी ठोस आधार के 1950 के दशक में ऐसे ही दावे कर रहे थे। पिकेटी इन दावों की असलियत से इतने वाकिफ हैं कि स्वीकार करते हैं कि पूंजीवाद की प्रकृति या आर्थिक नियमों में ऐसा कुछ नहीं है जो पूंजीवाद को आय और धन सम्पदा की समानता की ओर ले जाये। बल्कि वे उल्टी प्रवृत्ति को रेखांकित करते हैं यानी पूंजीवाद को अपने हाल पर छोड़ दिया गया तो वह आय और धन-सम्पदा की अतीव असमानता की ओर ले जायेगा। इसीलिए सामाजिक राज्य, प्रगतिशील आय कर और पूंजी पर वैश्विक कर की जरूरत उन्हें महसूस होती है।

VI

असमानता के मामले में बीसवीं सदी की गतिकी

इसमें कोई संदेह नहीं कि निजीकरण-उदारीकरण के पिछले चार दशकों में सारी दुनिया के पैमाने पर असमानता में बड़े पैमाने पर वृद्धि हुई है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि आज इसे पूंजीवादी हलकों में स्वीकार किया जा रहा है। सारी पूंजीवादी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं इसके प्रति चिंता जाहिर करते हुए कुछ करने या किये जाने की मांग करने का ढोंग कर रही हैं। इस मायने में स्थिति उन्नीसवीं सदी के अंत से भिन्न है जब इसे हर कीमत पर नकारा जाता था।

पिछले चार दशकों समेत पूरी बीसवीं सदी में ही आय और धन-सम्पदा की असमानता की क्या गतिकी रही है? इसका राजनीतिक अर्थशास्त्र क्या रहा है? यहां हम इस सवाल पर गौर करते वक्त थॉमस पिकेटी द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों के सटीकपन पर कोई बात नहीं करेंगे। यह एक तकनीकी मामला है तथा अभी बड़े पैमाने के शोध की मांग करता है। यहां हम पिकेटी द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों को मान कर चलेंगे और उनकी व्याख्या करने का प्रयास करेंगे।

पिकेटी के आंकड़ों को एक व्यापक दृष्टि से देखें तो असमानता की गति कुछ इस प्रकार नजर आती है। पूरी उन्नीसवीं सदी में असमानता बढ़ते हुए उन्नीसवीं सदी के अंत तथा बीसवीं सदी के शुरू में चरम पर जा पहुंची। इसमें प्रथम विश्व युद्ध और उसके बाद के वर्षों में कुछ नीचे की गति नजर आई पर मामला मूलतः वही बना रहा। फिर नीचे की ओर थोड़ी और गति महामंदी के दौरान देखी गई। पर असमानता में वास्तविक कमी द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान और उसके ठीक बाद के वर्षों में हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के तीन दशक सबसे ज्यादा समानता के दशक थे (साथ ही ये दशक विकसित देशों में ऊंची वृद्धि दर और 'कल्याणकारी राज्य' के भी दशक थे)। इसके बाद के चार दशकों में (जो निजीकरण-उदारीकरण- वैश्वीकरण के दशक रहे हैं) असमानता फिर तेजी से बढ़ने लगी और पिछले आठ सालों से जारी विश्व आर्थिक संकट के सालों मे चरम पर जा पहुंची। जहां 1930 के दशक की महामंदी के दौरान असमानता में गिरावट आई थी वहीं वर्तमान विश्व आर्थिक संकट (जिसकी अक्सर उस महामंदी से तुलना की जाती है और जिसे उसी की तर्ज पर 'द ग्रेट रिसेसन' नाम दे दिया गया है) के वर्षों में असमानता बढ़ी है और वह भी और तेजी से।

उपरोक्त तस्वीर बीसवीं सदी के दौरान (और उसके बाद वर्तमान सदी में) असमानता की गति की एक व्यापक वैश्विक तस्वीर ही है जो अपनी प्रकृति में ही सामान्य है। इसमें विभिन्न देशों की भिन्नताओं-असमानता के स्तर और उसकी गति दोनों-को नजरअंदाज कर दिया गया है। प्रस्तुत व्याख्या के दौरान उनकी जहां-तहां चर्चा की जायेगी।

इस संबंध में पहली बात तो यही कि बीसवीं सदी में असमानता की यह तस्वीर अपने सामान्य रूप में आम तौर पर ज्ञात रही है। कम से कम मार्क्सवादी दायरों में इस पर आम सहमति रही है कि असमानता के तीन चरण रहे हैं- महामंदी से पहले, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद और फिर निजीकरण-उदारीकरण का दौर। पहले में तीव्र असमानता, दूसरे में कम असमानता और फिर तीसरे में बढ़ती असमानता। पिकेटी के आंकड़ों ने बस इस तस्वीर को ज्यादा ठोस और सटीक बनाया है (जिस हद तक वे आंकड़े सटीक हैं)।

दूसरी बात यह कि बीसवीं सदी में असमानता की इस गति में दो चीजों की प्रमुख भूमिका रही है और दोनों एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं : दोनों विश्व युद्ध और महामंदी की तबाही तथा मजदूर वर्ग के व्यापक वर्ग संघर्ष तथा क्रांतियां। जहां पिकेटी पहले की चर्चा करते हैं वहीं दूसरे को पूरी तरह नजरअंदाज कर देते हैं हालांकि असमानता की कमी में प्रमुख भूमिका दूसरे की ही है।

पहले, पहले कारक की चर्चा करें। धन सम्पदा की असमानता की बात करें तो यह प्रथम विश्व युद्ध के पहले अपने उच्चतम बिन्दु तक जा पहुंची थी। तब यह धन-सम्पदा मुख्यतः तीन रूपों में थी-उत्पादन में लगी हुई पूंजी के रूप में, जमीनों- मकानों के रूप में और सरकारी ऋण के रूप में। यह सारी धन सम्पदा निजी ही थी क्योंकि सरकारें तो कर्ज में ही थीं।

दोनों विश्व युद्धों और महामंदी की तबाही ने इस धन सम्पदा में काफी कटौती की। पहली बार पूंजीवादी देशों ने ऊंचे स्तर की मंहगाई झेली (महामंदी के वर्षों को छोड़ कर) और इस कारण सरकारी ऋणों के रूप में विद्यमान धन-सम्पदा में तेजी से कमी आई। सरकारी ऋणों की ब्याज दरें तय थीं और मुद्रास्फीति ने इन ऋणों को तेजी से कम कर दिया। दूसरे विश्व युद्ध और महामंदी दोनों ने उत्पादक शक्तियों के रूप में मौजूद पूंजी को काफी कम कर दिया-पहले ने भौतिक तबाही के द्वारा तथा दूसरे ने मूल्य क्षरण के द्वारा। इस दौरान खेती में हो रहे परिवर्तन और कुल उत्पाद में कृषि के कम हो रहे हिस्से ने भी धन-सम्पदा में जमीन के हिस्से पर नकारात्मक तरीके से प्रभाव डाला। इस सबका सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि धनिकों की धन-सम्पदा में तेजी से कमी आई। चूंकि तब तक बाकी की नब्बे प्रतिशत आबादी के पास धन-सम्पदा बहुत कम थी (नीचे की पचास प्रतिशत आबादी के पास तो न के बराबर थी) इसलिए धनिकों की धन-सम्पदा में तेजी से कमी ने धन-सम्पदा की असमानता को कम किया। प्रथम विश्व युद्ध के समय से शुरू होकर यह प्रक्रिया द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तक जारी रही। इसके बाद इस प्रक्रिया का स्थान एक दूसरी प्रक्रिया ने ले लिया।

इस तीन दशकों में धन-सम्पदा की असमानता में जितनी कमी आई उतनी आय की असमानता में नहीं। इस काल में आय की असमानता में असली कमी द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही आई जबकि प्रथम विश्व युद्ध के बाद 1920 के दशक की तेजी ने इस आय असमानता को बढ़ाया ही था। जहां तबाहियों ने धनिकों की धन-सम्पदा को कम किया था वहीं उन्होंने इसका असर आय की असमानता पर नहीं पड़ने दिया था। चूंकि धन-सम्पदा के कम होने से उस पर हो रही आय में कमी हुई थी इसलिए इसका सीधा सा मतलब था कि उन्होंने मजदूरों का शोषण बढ़ाया था, छोटी सम्पत्ति वालों की तबाही बढ़ाई थी। आय की असमानता में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कमी तब होनी शुरू हुई जब महामंदी की भीषण बेरोजगारी (जिसने मजदूर वर्ग की आय में बहुत कटौती की थी) के बाद युद्ध आपूर्ति के कारण लगभग पूर्ण रोजगार की स्थिति पैदा हुई और मजदूरी में भी किसी हद तक वृद्धि हुई जिसके मूल में भी युद्ध के लिए किये जाने वाले प्रबन्ध ही थे।

दोनों विश्व युद्ध और महामंदी के कारणों के अलावा एक अन्य चीज भी इस बीच उदित हुई थी जिसने असमानता पर ज्यादा व्यापक और दूरगामी असर डाला। वह थी रूस की क्रांति और इसके प्रभाव में उभरे बड़े पैमाने के क्रांतिकारी आंदोलन तथा अन्य समाजवादी सत्ताओं का अस्तित्व में आना। इसी के साथ, इसके समानान्तर और इससे प्रतियोगिता करते हुए सामाजिक जनवादियों के नेतृत्व वाला मजदूर आंदोलन भी था जो 'कल्याणकारी राज्य' का प्रस्तोता और कर्ता-धर्ता बना।

प्रथम विश्व युद्ध के पहले यूरोप (और सं.रा. अमेरिका में भी) एक बड़े जनाधार वाला मजदूर आंदोलन मौजूद था जो युद्ध की शुरुआत होते ही ध्वस्त हो गया। इसने दिखाया कि बड़े जनाधार वाला यह आंदोलन वस्तुतः सुधारवादी हो चुका था। उसके सामाजिक जनवादी पूंजीवाद में सुधार के हामी थे न कि पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने के। इस ध्वस्त आंदोलन के छोटे से हिस्से ने ही रूस की बोल्शेविक पार्टी का अनुसरण किया जिसने अपने यहां क्रांति कर बाकियों के लिए क्रांति का रास्ता दिखाया था। रूस की क्रांति के बाद सभी कुछ वैसा नहीं रह गया जैसा पहले था।

अब दुनिया भर के पूंजीपति वर्ग के सामने क्रांति का वास्तविक खतरा मौजूद था। रूसी क्रांति के तुरंत बाद का क्रांतिकारी उभार जब कुछ वर्षों बाद ठंडा पड़ गया तो पूंजीपति वर्ग ने राहत की सांस ली थी। लेकिन जब महामंदी आई तो यह खतरा और भी बड़े पैमाने पर खड़ा हो गया। इस खतरे से बचने के लिए एक ओर तो पूंजीपति वर्ग ने फासीवाद-नाजीवाद और सैन्यवाद की शरण ली तो दूसरी ओर 'कल्याणकारी राज्य' की ओर कदम बढ़ाये। अलग-अलग देशों और देशों के अलग-अलग पूंजीपतियों ने इनमें से एक या दूसरा चुना। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं 1930 की महामंदी का दशक साथ ही नाजीवाद-फासीवाद के चरम का भी दशक था और कीन्स के 'कल्याणकारी राज्य' के सिद्धान्त तथा रूजवेल्ट के 'न्यू डील' का भी। यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि रूजवेल्ट के 'न्यू डील' को कदम-दर -कदम विरोध का सामना कना पड़ा। इस 'न्यू डील' से अमेरिका में महामंदी खत्म नहीं हुई बल्कि उसे द्वितीय विश्व युद्ध की लामबंदी ने ही समाप्त किया।

जब द्वितीय विश्व युद्ध की तबाही का मंजर थमा तो पूंजीपति वर्ग ने पाया कि एक तिहाई दुनिया उसके हाथ से निकल चुकी है। वहां समाजवादी राज्य या जनता के जनवादी राज्य कायम हो गये थे। विकसित पूंजीवादी देशों में बड़ी-बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियां मौजूद थीं। फ्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी तो अपने देश की सबसे बड़ी पार्टी थी और नाजी कब्जे के खिलाफ अकूत कुर्बानियां देते हुए 'पार्टी आव डेड' के नाम से जनता में लोकप्रिय थी। दूसरी ओर नाजीवाद-फासीवाद, विश्व युद्धों की तबाही तथा साम्राज्यवादी लूट-पाट की सारी तोहमत पूंजीपति वर्ग के सिर थी। उसकी व्यवस्था एकदम विश्वसनीयता खो चुकी थी जबकि नाजीवाद को पराजित करने वाले समाजवादी सोवियत संघ की लोकप्रियता चरम पर थी।

इन्हीं स्थितियों में दुनिया भर के पूंजीपति वर्ग ने 'कल्याणकारी राज्य' का रास्ता चुना। स्कैन्डेनिवियाई देशों में इसके प्रयोग 1910-20 के दशक से शुरू हो गये थे तथा महामंदी के भीषण वर्षों में इसने आम स्वीकार्यता पाई और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसे बड़े पैमाने पर प्रयोग में लाया गया। इसका आधार द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही तैयार हो गया था जब युद्ध की जरूरतों के मद्देनजर सरकारों ने बड़े पैमाने पर कर लगाये थे, उद्यमों का राष्ट्रीयकरण किया था, एक राष्ट्रीय योजना बनाई थी, अर्थव्यवस्था का नियमन किया था तथा आय के वितरण को भी नियंत्रण के दायरे में ले आई थीं। अब करना केवल यही था कि इसे युद्धकालीन आपात स्थिति के बदले आम बना देना था और इसका दायरा बढ़ा देना था। विकसित पूंजीवादी देशों की सरकारों ने यही किया। युद्धकालीन नियंत्रणकारी राज्य से 'कल्याणकारी राज्य' अस्तित्व में आ गये।

इसके बाद तीन दशकों तक 'कल्याणकारी राज्य' कायम रहा। बड़े पैमाने का सार्वजनिक क्षेत्र, ऊंची दरों वाली प्रगतिशील कर व्यवस्था तथा शिक्षा-स्वास्थ्य और नागरिक सुविधाओं को मुफ्त या लगभग मुफ्त मुहैय्या कराने वाला यह 'सामाजिक राज्य' पूंजीपति वर्ग के लिए मजदूर वर्ग के सामने प्रस्तुत किया जाने वाला समाजवादी व्यवस्था का विकल्प बन गया। इन वर्षों में धन-सम्पदा की असमानता में और कमी आई तथा आय की असमानता में कमी वास्तव में इसी दौरान आई (जो द्वितीय विश्व युद्ध के वर्षों में शुरू हुई थी)। आय में असमानता की कमी का मेकेनिज्म द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद एक ही था हालांकि दोनों के उद्देश्य अलग थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के 'कल्याणकारी राज्य' या पिकेटी के 'सामाजिक राज्य' के तीन दशक धन-सम्पदा और आय की असमानता के घटने या उसके स्थिर रहने के साल थे। लेकिन ये ही वे साल भी थे जब विकसित पूंजीवादी देश सबसे तेज वृद्धि दर कायम करने में कामयाब हुए। इसकी मुख्य वजहें महामंदी और विश्व युद्धों की तबाही की भरपाई, नयी उत्पादक तकनीकें (जिनमें से ज्यादातर युद्ध तकनीकी का उप-उत्पाद थीं) तथा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नीचे के वर्गों की बढ़ी हुयी आय के अनुरूप नयी मांग की पूर्ति थीं। इस तेज वृद्धि दर के कारण पूंजीपति वर्ग को 'कल्याणकारी राज्य' से बहुत ज्यादा परेशानी नहीं थी, खासकर जब व्यवस्था को कम्युनिज्म के खतरे से बचाने के लिए यह जरूरी हो।

जैसा कि हमने विस्तारित पैमाने के उत्पादन की चर्चा के दौरान देखा था स्थिर पूंजी और परिवर्ती पूंजी के अनुपात तथा परिवर्ती पूंजी और बेशी मूल्य के अनुपात (शोषण की तीव्रता) के वही बने रहते हुए भी पूंजी का बखूबी संचय हो सकता है और वह बढ़ सकती है। तब आय की असमानता में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होगी, वह पुराने स्तर पर बनी रहेगी पर पूंजीपति वर्ग की पूंजी लगातार बढ़ती जायेगी। ऐसी अवस्था में जितनी पूंजी बढ़ेगी उतनी ही कुल मजदूरी या मजदूरों की संख्या बढ़ जायेगी। पूंजीपति वर्ग प्रसन्न रहेगा क्योंकि उसकी पूंजी की कुल मात्रा लगातार बढ़ रही है। शोषण और मुनाफे की दर वही रहते हुए भी वह अब ज्यादा मजदूरों को काम पर लगा रहा होगा और कुल ज्यादा मुनाफा कमा रहा होगा। दूसरी ओर मजदूर के पास चूंकि अपनी श्रमशक्ति के अलावा कुछ नहीं होता इसलिए पूंजीपति वर्ग की पूंजी बढ़ने के साथ दोनों के बीच खाई बढ़ती जायेगी। मजदूर वर्ग एक समूह के तौर पर भले ही इसे महसूस न करे (क्योंकि पूंजी के बढ़ने के साथ उसी अनुपात में कुल मजदूरों की संख्या भी बढ़ी है) पर बढ़ी हुई सामाजिक पूंजी के मुकाबले खड़ा एक अकेला मजदूर जरूर इसे महसूस कर सकता है। उसकी अकेले की सौदेबाजी की क्षमता घटती जाती है। पांच मजदूरों का नियोक्ता पूंजीपति अपने एक मजदूर की ज्यादा चिंता करेगा पर पांच हजार मजदूरों का नियोक्ता अत्यन्त कम जबकि पांच लाख मजदूरों का नियोक्ता तो बिलकुल भी नहीं। यहां याद रखना होगा कि 'कल्याणकारी राज्य' के जमाने में बड़े पैमाने के यूनियनीकरण के कारण मजदूरों की सौदेबाजी की क्षमता बहुत बढ़ी थी पर मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा अभी भी सामूहिक सौदेबाजी के दायरे के बाहर था क्योंकि वह संगठनबद्ध नहीं था।

यहां यह याद रखना होगा कि उपरोक्त सब तब था जब उत्पादकता में बढ़ोत्तरी के कारण मजदूरों के उपभोग की वस्तुओं में वृद्धि हुई थी यानी उनका जीवन उपभोग निरपेक्ष तौर पर (पूंजीपति वर्ग के मुकाबले नहीं बल्कि स्वयं अपने पहले के उपभोग के मुकाबले) बेहतर हुआ था। आय और पूंजी की असमानता के वही रहते हुए भी 'कल्याणकारी राज्य' के दौरान इस बढ़े हुये जीवन उपभोग ने भी 'कल्याणकारी राज्य' और पूंजीवाद के भविष्य के बारे में बहुत सारे भ्रमों को जन्म दिया था।

लेकिन ऐसा नहीं था कि 'कल्याणकारी राज्य' के इन तीन दशकों में विस्तारित पैमाने का उत्पादन पूंजी की उसी आंगिक संरचना और शोषण की उसी तीव्रता के तहत होता रहा। इस दौरान दोनों ही बढ़े और तेजी से बढ़े। और उत्पादन की तेज वृद्धि को देखते हुए यह होना भी चाहिए था, खासकर जब युद्ध तकनीक के बहुत से उप-उत्पाद बाजार में आने को तैयार हों। ऐसे में जब पूंजी की आंगिक संरचना में तथा बेशी मूल्य की दर में वृद्धि हुई तो इसके स्वाभाविक परिणाम के तौर पर इन सालों में आय और धन-सम्पदा की असमानता में वृद्धि क्यों नहीं हुई? क्यों वह वही बनी रही या कुछ कम भी हुई।

इसका पहला कारण तो यह है कि एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद 'कल्याणकारी राज्य' ने गति पकड़ ली और उसका दायरा बढ़ता गया। जहां सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा स्वयं उसके हाथ में था वहीं प्रगतिशील कर दरों के कारण पूंजीपति वर्ग की आय का एक बड़ा हिस्सा राज्य के पास चला जाता था जो पूंजीपति वर्ग की वास्तविक आय को कम करने के कारण उसके साथ-साथ संचय को भी कम करता था। यह इस हद तक जा सकता है कि पूंजी की आंगिक संरचना और बेशी मूल्य की दर में बढ़ोत्तरी के बावजूद पूंजीपति वर्ग की आय और पूंजी को मजदूरों की आय के अनुपात में ही बढ़ने दे। पिकेटी द्वारा इच्छित आदर्श 'सामाजिक राज्य' ऐसा ही होगा।

दूसरा कारण वह है जिसे विकसित पूंजीवादी देशों में मध्यम वर्ग की परिघटना कहा जाता है। सच्चाई यही है कि नीचे की पचास प्रतिशत की धन-सम्पदा इन सालों में भी न के बराबर बढ़ी, उनका जीवन उपभोग निरपेक्ष तौर पर चाहे जितना बढ़ा हो। उनकी आय में भी सापेक्षिक तौर पर कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसे में जो परिवर्तन हुआ वह पूंजीपति वर्ग के अलावा इस पचास प्रतिशत से ऊपर की आबादी में। इसकी धन-सम्पदा में कुछ बढ़ोत्तरी हुई और यह पूंजीपति वर्ग की धन-सम्पदा में सापेक्षिक गिरावट के समरूप थी। आबादी के इस हिस्से की धन-सम्पदा में सापेक्षिक वृद्धि हुई थी। पूंजीपति वर्ग तब से आज तक इसी का गुणगान करता रहा है और इसके जरिये अपने समाजों को मध्यम वर्गीय समाज घोषित करता रहा है। इसी के द्वारा यह कहा गया कि मजदूर वर्ग या सर्वहारा इन देशों में गायब हो गया है। सारे लोग मध्यम वर्गीय हो गये हैं (थोड़े से पूंजीपतियों को छोड़कर)। निजीकरण-उदारीकरण के दशकों में यह हिस्सा काफी निचोड़ा गया, जैसा कि आज की रिपोर्टें बताती हैं। वैसे भी धन-सम्पदा के मामले में नीचे की पचास प्रतिशत आबादी से निचोड़े जाने के लिए ज्यादा कुछ था भी नहीं।

इस 'मध्यम वर्ग' के बारे में कुछ चीजें गौर करने लायक हैं। इसमें भी धन-सम्पदा का वितरण श्रेणीक्रमानुसार ही था यानी ऊपरी हिस्से के पास ज्यादा और निचले हिस्से के पास कम। यानी धन-सम्पदा का संकेन्द्रण ऊपर ही था। दूसरा यह कि यह धन-सम्पदा ज्यादातर मकानों के रूप में थी। यानी आबादी के इस हिस्से के पास अपना मकान होने से ही यह कुछ धन-सम्पदा का मालिक हुआ था। इसके अलावा उसके पास केवल थोड़ी सी बचतें या सरकारों द्वारा थोपी गईं बचतें ही थीं। यानी पूंजीवादी समाज की वास्तविक धन-सम्पदा यानी निवेश की जाने वाली पूंजी उसके पास नहीं थी या न के बराबर थी।

पूंजीवाद द्वारा पैदा किये इस आधुनिक 'मध्यम वर्ग' में अभिजात मजदूर, सुपरवाइजर, प्रबंधक, भांति-भांति के पेशेवर इत्यादि सभी शामिल थे जिन्हें निजीकरण- उदारीकरण की बदली हुई स्थितियों में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

'कल्याणकारी राज्य' के दौर में आय की गति का कारण वृद्धि दर का ज्यादा होना और इसलिए $r-g$ का कम होना नहीं है जैसा कि पिकेटी सोचते हैं। g नये मूल्य के सृजन पर निर्भर करती है जिससे यह तय नहीं होता कि इस नये सृजित मूल्य का पूंजी और श्रम के बीच कैसे बंटवारा होगा। चूंकि पूंजी की आम गति पूंजी की आंगिक संरचना में तथा बेशी मूल्य की दर में बढ़ोत्तरी की है इसलिए आम गति नये सृजित मूल्य के पूंजी के और ज्यादा पक्ष में जाने की है। केवल अन्य कारक ही इस प्रवृत्ति को धीमा कर सकते हैं, वर्ग-संघर्ष जिसमें प्रमुख है। यदि नया मूल्य ज्यादा सृजित हो रहा है तो इससे यह बिलकुल भी तय नहीं होता कि इस कारण पूंजी की आंगिक संरचना और बेशी मूल्य की दर वही बनी रहेगी तथा आय का बंटवारा वही बना रहेगा। इसी तरह यदि सृजित मूल्य पुराने स्तर पर बना रहे (वृद्धि दर शून्य) तो इससे भी यह तय नहीं होता कि इस नये सृजित मूल्य का बंटवारा पूंजी के पक्ष में झुक जायेगा और आय का बंटवारा पहले से असमान हो जायेगा।

जहां तक पूंजी पर प्रतिफल यानी r का मामला है वह अपने तीन हिस्सों की अलग-अलग गतियों का सम्मिलित परिणाम होता है। कुल बेशी मूल्य मुनाफे, ब्याज और किराये में बंट जाता है। इन तीनों की अपनी विशिष्ट गतियां होती हैं। ये तीनों मिलकर किसी स्थाई औसत दर को सुनिश्चित करेंगी, इसका कोई कारण नहीं है। इसलिए r को अपेक्षाकृत स्थाई मानकर फिर असमानता को $r-g$ से संबंधित करना और इससे कोई 'नियतिवादी' निष्कर्ष निकालना गलत होगा। 'कल्याणकारी राज्य' के जमाने में $r-g$ ने कुछ नियत नहीं किया जिसे अब 'सामाजिक राज्य' को करना है। वस्तुतः तब जो भी हुआ उसे 'कल्याणकारी राज्य' ने ही किया और पूंजीपति वर्ग ने उस समय की परिस्थितियों में न केवल उसे बर्दाश्त किया बल्कि उसे अपना समर्थन भी दिया। यदि पूंजीवाद की प्रकृति या बाजार के नियमों में ऐसा कुछ नहीं है जो उसे लगातार बढ़ती हुई असमानता की ओर जाने से रोके तो यह $r-g$ का सूत्र भी नहीं है।

पूंजीपति वर्ग ने 'कल्याणकारी राज्य' को बर्दाश्त किया क्योंकि उसे इसकी जरूरत थी और यह संभव हुआ क्योंकि वृद्धि तेज होने के चलते पूंजी संचय में कोई दिक्कत भी नहीं थी। परन्तु 1960 के दशक का अंत होते-होते उन कारकों ने काम करना बंद कर दिया था जिससे तेज वृद्धि दर संभव हुई थी। अब वृद्धि दर धीमी पड़ने लगी। इसी के साथ पूंजीपति वर्ग ने पाया कि उसकी मुनाफे की दर भी पहले वाली नहीं रही। पूंजीवाद के आर्थिक चक्र ज्यादा तीखे ढंग से लौट आये थे और 1973-74 में तो मंदी ने खासकर अपना असर दिखाया।

दूसरी ओर राजनीतिक स्थितियां भी बदल चुकी थीं। 1970 के मध्य तक (जब 1976 में माओ की मृत्यु हुई) वह खतरा टल चुका था जिसने पूंजीपति वर्ग को 'कल्याणकारी राज्य' अपनाने के लिए मजबूर किया था। सोवियत संघ में ख्रुश्चोव के आने के साथ सोवियत खेमा पूंजीवादी रास्ते पर चल पड़ा था और 1960 के दशक में सोवियत संघ साम्राज्यवादी देश में तब्दील होकर पश्चिमी साम्राज्यवादियों के साथ प्रतियोगिता में उतर पड़ा था। चीन में माओ की मृत्यु के बाद पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो जाने के बाद समाजवाद का खतरा हाल-फिलहाल पूरी तरह टल चुका था। दुनिया भर की पहले की कम्युनिस्ट पार्टियां अब संशोधनवादी हो चुकी थीं जबकि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमा टूट-बिखराव का शिकार होकर छोटे-छोटे ग्रुपों के रूप में मौजूद रह गया था।

इसी के साथ पहले की सामाजिक जनवादी और समाजवादी पार्टियां पहले से भी ज्यादा पतित होकर वहां पहुंच गई थीं जहां वे अपने साथ जुड़े अभिजात मजदूरों के हितों की भी रक्षा नहीं कर सकती थीं। अभिजात मजदूरों के संगठन भी पूर्णतया पालतू होकर संघर्ष का कोई भी माद्दा खो चुके थे। अब वे ज्यादा से ज्यादा रक्षात्मक लड़ाई ही लड़ सकते थे।

यही वे परिस्थितियां थी जिनमें विकसित देशों के पूंजीपति वर्ग ने यानी साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग ने अपने मुनाफे और संचय के संकट को हल करने के लिए हमला बोला। यह हमला 'कल्याणकारी राज्य' पर और मजदूर वर्ग पर था। साथ ही पिछड़े देशों के मजदूर वर्ग और छोटी सम्पत्ति के मालिकों पर भी।

इस हमले की शुरुआत 1970 के दशक में हुई और सं.रा. अमेरिका में रोनाल्ड रीगन और यूनाइटेड किंगडम में मार्गरेट थैचर के साथ एक झटके से नयी ऊंचाई पर पहुंची। 1990 का दशक शुरू होते-होते यह अभियान पूरा हो चुका था। लैटिन अमेरिका और अफ्रीका के लिए 1980 का दशक पहले ही 'खोये हुए दशक' के रूप में दर्ज हो चुका था। हां, इस अभियान ने एक बड़ी कामयाबी तब हासिल की जब सोवियत खेमा भी खुली अर्थव्यवस्था के रूप में 1980 के दशक के अंत और 1990 के दशक की शुरुआत में जज्ब कर लिया गया। सारी दुनिया का उत्पादन और वितरण साम्राज्यवादी पूंजी की मातहती में एकीकृत हो चुका था। उसे साम्राज्यवादी पूंजी ने एक खास तरीके से पुनर्गठित कर लिया था। इस सबको चलती हुई भाषा में निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण का नाम दिया गया। यह उस प्रक्रिया की बिलकुल उल्टी प्रक्रिया थी जो द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद के कुछ वर्षों में घटित हुई थी।

इन सब ने वृद्धि दर को नहीं बढ़ाया। यही नहीं, समय-समय पर आने वाले आर्थिक संकट अधिकाधिक घनीभूत होने लगे। लेकिन इसने मुनाफे और संचय को बहुत बढ़ा दिया। धन-सम्पदा और आय की असमानता तेजी से बढ़ने लगी। इसी से पिकेटी जैसे लोगों को भ्रम पैदा हुआ कि वृद्धि दर कम होने के कारण असमानता बढ़ने लगी। वे परिणाम को कारण समझ बैठे।

वास्तव में 1970 के दशक में पूंजीपति वर्ग अब उसी बिन्दु पर लौट आया था जो महामंदी के पहले वाली स्थिति थी। वहां से वह महामंदी में गया और केवल द्वितीय विश्व युद्ध की तबाही और 'कल्याणकारी राज्य' ने ही उसे उबारा था। अब वह क्या करता?

उसने वही किया जो उसकी सहजवृत्ति में है। उसने मजदूर वर्ग और छोटी सम्पत्ति की कीमत पर अपना मुनाफा और संचय बढ़ाना तय किया। निजीकरण- उदारीकरण-वैश्वीकरण के नाम पर जो कुछ भी किया गया, उसका केवल यही मतलब था। पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग के बीच का जो संस्तर था उसके जीवन स्तर को गिराना, अभिजात मजदूर वर्ग के जीवन स्तर को नीचे धकेलना, गैर अभिजात मजदूरों को उनकी श्रम शक्ति के मूल्य से भी नीचे धकेलना तथा छोटी सम्पत्ति वालों का सम्पत्तिहरण वे तरीके थे जिससे इसे अंजाम दिया गया। और यह दुनिया के पैमाने पर किया गया, खासकर अंतिम दोनों को। पिछड़े पूंजीवादी देशों में न्यूनतम मजदूरी से भी बहुत कम मजदूरी पर काम तथा 'बेदखली के जरिये संचय' बहुत बड़ी परिघटना के तौर पर सामने आया।

जैसा कि पूंजीपति वर्ग का लक्ष्य था, इस सबने पूंजीपति वर्ग का मुनाफा और संचय बढ़ाया तथा चूंकि यह आबादी के बाकी हिस्सों की कीमत पर किया गया था इसलिए इसने आय और धन-सम्पदा की असमानता को भी तेजी से बढ़ाया। पर इसने वृद्धि दर को नहीं बढ़ाया हालांकि यह सब किया गया था वृद्धि दर को बढ़ाने के नाम पर।

विशाल पैमाने के पूंजी संचय ने पूंजी निवेश की समस्या को और भी विकराल बनाया और पूंजी अधिकाधिक सट्टेबाजी की तरफ उन्मुख होती गई। इस तरह उत्पादन और वितरण की धीमी वृद्धि दर ने पूंजी को अधिकाधिक सट्टेबाजी की ओर धकेला यानी छोटी सम्पत्ति के साथ अब एक-दूसरे की कीमत पर भी मुनाफा और संचय। यह सब तीन दशकों में रद्दा-दर-रद्दा इतना बढ़ता गया कि जब 2007 में सट्टेबाजी का भारी विशाल बुलबुला फूटा तो यह अपने साथ सारी अर्थव्यवस्था को भी रसातल में लेता गया जिससे यह अभी तक नही उबर पाई है हालांकि इस बीच एक और भी बुलबुला तैयार हो चुका है।

पिछले चार दशकों की इस परिघटना को किसी r-g के सूत्र से नहीं व्याख्यायित किया जा सकता। (इन्हीं दशकों में अपवाद स्वरूप चीन में वृद्धि दर बहुत तेज रही है पर वहां असमानता भी बहुत तेजी से बढ़ी है। r-g के सूत्र के हिसाब से देखें तो ऐसा बिलकुल नहीं होना चाहिए था।) इसे केवल उसी तरह व्याख्यायित किया जा सकता है जैसे ऊपर किया गया है।

वैसे अन्य लोगों के साथ पिकेटी ने भी रेखांकित किया है, इन दशकों में 'सुपर मैनेजर्स' और किरायाजीवियों की एक ऐसी कतार पैदा हुई है जो दुनिया की अधिकाधिक धन-सम्पदा को अपनी मुट्ठी में करती जा रही है। खोज-बीन करने पर पिकेटी भी इस नतीजे पर पहुंचने के लिए मजबूर होते हैं 'सुपरमैनेजरों' को मिलने वाली विशाल तनख्वाह उनकी किसी कार्यकुशलता का परिणाम नहीं हो सकती। यह केवल उसी चीज का परिणाम हो सकती है जिसे किराया वसूलना कहते हैं। यानी ये सुपरमैनेजर भी असल में किरायाजीवी ही हैं। बिल गेट्स के किरायाजीवी होने में आज किसी को संदेह नहीं है क्योंकि वे सेवानिवृत्त हो चुके हैं। पर वास्तव में पहले भी ऐसे ही किरायाजीवी थे जब वे माइक्रोसाफ्ट कारपोरेशन के अध्यक्ष थे। आज हम विशाल पैमाने के किरायाजीवियों के समाज में जी रहे हैं जो अधिकाधिक आय और धन-सम्पदा हथियाते जा रहे हैं और दुनिया की विशाल आबादी को अधिकाधिक कंगाली में धकेलते जा रहे हैं।

पिकेटी इन किरायाजीवियों से चिन्तित हैं और इससे निपटने का एक तरीका वे सरकारी कर्जों के खात्मे में देखते हैं जो एक बार फिर बहुत बढ़कर राष्ट्रीय आय के एक गुने, डेढ़ गुने या यहां तक कि दो गुने तक पहुंच चुका है। लेकिन वे यह याद नहीं करना चाहते कि सरकारों पर यह विशाल पैमाने पर कर्ज अपनी बारी में इन किरायाजीवियों के कारण ही, उन्हें बचाने या लाभ पहुंचाने की खातिर ही चढ़ा, खासकर विश्व आर्थिक संकट के दौरान। यह मजदूर वर्ग पर किसी अतिरिक्त खर्च के कारण नहीं चढ़ा जो इस बीच लगातार और कंगाल होता गया है जैसा कि पहले रेखांकित किया गया है। वर्तमान विश्व आर्थिक संकट की यह खासियत रही है कि इस दौरान पूंजीपति वर्ग की पूंजी बढ़ी-सापेक्षिक और निरपेक्ष दोनों तौर पर जबकि महामंदी के दौरान पूंजीपति वर्ग की पूंजी घटी थी। पूंजीपति वर्ग ने यह शानदार

कारनामा सरकारी ऋणों के माध्यम से और सरकारों के माध्यम से अंजाम दिया। सरकारों के द्वारा उनके नुकसान को ही मजदूर वर्ग को स्थानांतरित नहीं किया गया बल्कि उन्हें अतिरिक्त भी दे दिया गया। इसी कारण जो वित्तीय संस्थान दिवालिया होने के कगार पर खड़े थे और सरकारों द्वारा विशाल राशि झोंक कर बचाये गये वे तुरंत ही पहले से ज्यादा मुनाफा देने लगे। दुनिया भर की सरकारों ने इस दौरान विश्व सकल उत्पाद के एक तिहाई से ज्यादा इन वित्तीय सट्टेबाजों पर लुटाये हैं और भलेमानस पिकेटी इन सरकारों से उलटे की उम्मीद करते हैं।

VII

नुस्खों से कुछ नहीं होगा

पिकेटी सरकारों को नुस्खा सुझाते हैं कि आय और धन-सम्पदा की बढ़ती असमानता से कैसे निपटें जो एक जनतांत्रिक समाज के लिए खतरा है। वे फ्रांसिसी क्रांति की 'सामाजिक उपयोगिता' पर आधारित असमानता की ओर लौटना चाहते हैं। इसके लिए वे सबको शिक्षा-स्वास्थ्य देने वाले 'सामाजिक राज्य', सरकारी कर्जों का खात्मा, प्रगतिशील कर प्रणाली तथा पूंजी पर वैश्विक कर का अपना नुस्खा प्रस्तावित करते हैं। और यह नुस्खा भी बिना उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों को पलटे हुए। पिकेटी संरक्षणवाद और राष्ट्रवाद के खिलाफ हैं।

पिकेटी अपना यह नुस्खा प्रस्तावित करते हैं वर्तमान पूंजीवाद के मूलभूत चरित्र यानी साम्राज्यवाद को नजरअंदाज कर। उनके लिए आज साम्राज्यवाद का कोई अस्तित्व नहीं है। उनकी किताब में भी यदि साम्राज्यवाद शब्द आया है तो पुराने औपनिवेशिक देशों के संदर्भ में ही। उन्होंने यहां तक घोषित कर दिया कि सं.रा. अमेरिका कभी साम्राज्यवादी नहीं रहा। वे देशों के कुछ बाहरी-भीतरी निवेश से दिखाते हैं कि विकसित देशों ने जितना बाहर पूंजी निवेश किया है उतना ही उनके यहां भी बाहर से पूंजी आई है। यानी वे साम्राज्यवादी पूंजी निवेश के जरिये कोई शोषण नहीं करते।

ऐसे में पूंजी का वैश्वीकरण, खासकर सट्टेबाज पूंजी का आवागमन उनके लिए बस एक सामान्य वित्तीय प्रवाह की घटना बन जाती है जिसमें यदि कोई परेशानी है तो वह है विभिन्न देशों में करों की विभिन्न दरें और 'टैक्स हैवेन्स' (ऐसी जगहें जहां अपने संस्थान को पंजीकृत कराकर और जहां से निवेश कर करों से बचा जा सकता है)। यदि सरकारें राजी हो जायें तो इस सबसे पार पाया जा सकता है, पूंजी को प्रगतिशील कर प्रणाली तथा वैश्विक पूंजी कर के दायरे में लाया जा सकता है।

सभी नवशास्त्रीय अर्थशास्त्रियों की तरह पिकेटी भी पूंजीवाद की मूलभूत वर्गीय संरचना को भुला देते हैं (पूंजीवाद की मुख्य चालक शक्ति यानी अधिकाधिक संचय को तो वे पहले ही नकार चुके होते हैं)। उनके लिए पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग दो विरोधी वर्ग नहीं हैं जिनके परस्पर अपवर्जी हित हैं। उनके लिए पूंजीवादी राज्य पूंजीपति वर्ग की प्रबंधकारिणी संस्था नहीं है। उनके लिए क्या तो पूंजी और क्या तो श्रम सभी उत्पादन के कारक (Factors) हैं जिनको एक दूसरे से प्रतिस्थापित किया जा सकता है और जो खुद पर छोड़ दिये जाने पर अपना संतुलन हासिल कर लेते हैं। अपनी नवशास्त्रीय धारणाओं के कारण वे साम्राज्यवाद को भी नजरअंदाज कर देते हैं। उनके मॉडल में सत्ता संरचना का कोई स्थान नहीं है।

परन्तु यदि बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के नकारने से पूंजीवाद की मूलभूत संरचना और उसकी गति में फर्क आ गया होता तो पूंजीवाद अपनी बीसवीं सदी की गति से नहीं गुजरता। उनका संतुलनकारी मॉडल तो उसे कभी किसी संकट में फंसने ही नहीं देता।

ठीक इसी कारण से बुर्जुआ अर्थशास्त्री, चाहे वे पिकेटी जैसे नव शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्री ही क्यों न हों, कुछ भी कहें पूंजीवादी व्यवस्था एक बार फिर भीषण उथल-पुथल की ओर बढ़ रही है। इनके नुस्खे उसे इस ओर बढ़ने से नहीं रोक सकते। आय और धन-सम्पदा की असमानता बढ़ती जायेगी और पूंजीवाद और अधिक गहरे संकट की ओर चलता चला जायेगा। यह मजदूर वर्ग को नयी सर्वहारा क्रांतियों की ओर धकेलेगा। और जब ऐसा होना शुरू होगा तब पूंजीपति वर्ग अपनी व्यवस्था की रक्षा की खातिर अपने पांव वापस खींचने की ओर जा सकता है, उसके पहले नहीं। पहले का 'कल्याणकारी राज्य' भी सर्वहारा क्रांतियों का उप-उत्पाद था, किसी पूंजीवादी नुस्खे का परिणाम नहीं। भविष्य में 'कल्याणकारी राज्य' भी सर्वहारा क्रांतियों का ही उप-उत्पाद होगा। लेकिन शायद इस बार पूंजीपति वर्ग को इसका मौका न मिले। हो सकता है कि वह एक ही झटके में इतिहास के रंगमंच से झाड़-बुहार दिया जाये।

■■■